जड़ की बात

— कुछ निबंध —

लेखक

श्री जैनेन्द्रकुमार

हिन्दी मंदिर, प्रयाग

प्रकाशक
बृहस्पति उपाध्याय,
हिन्दी मंदिर, प्रयाग।

पहली बार : १९४६
मूल्य
दो रुपया

मुद्रक
अमरचन्द्र
राजहंस प्रेस, दिल्ली।

कुछ—

श्री जैनेन्द्र कहते हैं—"मुझे जो कहना था, सो तो कह ही दिया है, अब भई, प्रकाशक जानें—उन्हें भूमिका कही जाने वाली चीज़ में क्या लिखना है।" और अब प्रकाशक के नाते यह 'हल्का-बोझा' उतार फेंकने भर को ये चन्द पंक्तियां लिखनी पड़ रही हैं।

'जड़ की बात' शब्द से चौंकने की ज़रूरत नहीं। आखिर श्री जैनेन्द्र क्या 'जड़ की बात' कहना चाहते हैं। जो कुछ भी उन्होंने कहा है, वह जड़ यानी मूल रूप पर चोट तो गहरी मार जाता है और फल जो है वह कड़ुआ भी नहीं, मीठा भी नहीं—महज़ सीधा-सादा तत्त्व रूप रह जाता है और यही मोटी-सी बात श्री जैनेन्द्र की 'जड़ की बात' का परिचय-सा है।

आप शहरों की रेल-पेल में हर रोज़ इधर-उधर भटकते हैं। बरसों से, नहीं—हमारी गिनती से पहले से ही—दीन-दरिद्र-दुखी तड़फड़ाते देखे जाते हैं और हम देखकर निकल जाते हैं, किंतु श्री जैनेन्द्र ने देखा, वह आगे नहीं जा सके, बढ़ नहीं गये, रुक गये। रुककर वह दिल में जो कुछ कह सके, कह गये—उनके दिल को पढ़ जायंगे आप, तो, आपको 'अपना' पहचानने में सुख-सा होगा। यही 'जड़ की बात' की बाबत कह सकते हैं। ऐसा इसमें दिल को टटोलने वाला बहुत कुछ है। जीवन के हर पहलू पर आप विचार करने को रुकेंगे और अपने अन्दर कुछ टटोलेंगे। इसीलिए यह छापी भी गई है।

प्रकाशक

लेख-सूची

जड़ की बात

: १ :

जड़ की बात

उस रोज़ देखा कि सड़क के किनारे धूप में एक आदमी पड़ा हुआ है। हड्डियों का ढांचा रह गया है और मिनटों का मिहमान है। चलती सड़क, काफ़ी लोग आ-जा रहे थे। वे उसकी तरफ देखते और बढ़ जाते थे। मैंने भी उसकी तरफ़ देखा और बढ़ गया।

उस दृश्य पर आने से कुछ पहले उसी सड़क पर मैंने देखा कि एक मोटर चलते-चलते रुकी। उसमें से दो व्यक्ति उतरे और नीचे कुछ देखते हुए पीछे की ओर गये। आखिर कुछ दूर चलने पर एक रुपया उन्हें पड़ा हुआ मिला। वह शायद उन्हें मोटर से जाते हुए दीखा होगा। उसके लिए ही वे मोटर से उतरे थे।

कल्पना कीजिये कि उस आदमी की जगह तांबे का एक पैसा पड़ा होता, तो क्या उसको पड़ा रहने दिया जाता? लखपती भी होता तो शायद उसे देखते ही उठा लेता। रुपये की तरफ़ उन मोटर वालों की सावधानता देखी ही जा चुकी है। इसी तरह धन का प्रतिनिधि एक भी सिक्का कहीं पड़ा हो, तो किसी के देखने की देर है कि वह धूल से उठाकर छाती के पास की जेब में रख लिया जायगा।

लेकिन आदमी की दूसरी बात है। आदमी मरने के लिए आदमी की ओर से छुट्टी पा गया है। कारण, पैसे की क़ीमत है। आदमी की क़ीमत नहीं है।

दया आदि की बात छोड़िये। किसी को फुर्सत क्यों कि दया में पड़े?

दया का दावा नहीं हो सकता। मरज़ी है कि दयावान दया करे। मरज़ी नहीं है तो दया न करने के लिए किसी को दोष नहीं दिया जा सकता। अर्थात् यह प्रश्न नहीं है कि दया आदमी में क्यों नहीं रही। आप मानते हैं कि किसी के दिल में दया होती तो वह उस अधमरे आदमी का कुछ उपचार करता। पर मुझे इससे सन्तोष नहीं है। उस आदमी के उपचार के लिए दयावान व्यक्ति की ज़रूरत हो और हममें से हर कोई उस तरह के उपचार में सचेष्ट न हो, यह स्थिति ही मेरी चिन्ता का विषय है। इस स्थिति में जरूर कोई बड़ा दोष है। दयालु होने के कारण ही मैं उस ग़रीब के काम आ सकता हूं, समझदारी के कारण नहीं, आज का यही हाल है। उस ग़रीब को बचाकर क्या होगा? सैकड़ों-हजारों मरते हैं। अजी छोड़ो, अपना काम देखो। इस फेर में लगोगे, इतने कुछ और कमाई का काम ही न करलो। यह आदमी मर जायगा तो किसीका क्या नुकसान होगा? इससे समझदारी यह है कि दया में न पड़ा जाय।

यह सच ही है और मैं इससे सहमत हूं। जहां दया और समझ का विरोध हो वहां मैं समझ के पक्ष में हूं। दया कच्ची भावुकता है। समझदारी वह ज़मीन है जहां पैर टिकता है। हम नहीं मांग सकते कि हर कोई दयावान हो। पर समझदार हर किसी को होना चाहिये। दया में गिरकर लोग फ़कीर हो गये हैं। घर-घाट के नहीं रह गये, बारह बाट हो गये हैं। कोई भला ऐसे बना है? सब बिगड़े ही हैं। महापुरुषता का लक्षण गहराई से देखें तो दया से अधिक अदया (निस्पृहा) है। दया वह उतनी ही पालते हैं जितनी समझदारी में निभती है।

मैं अन्तःकरण की सच्चाई से कहता हूं कि दया की प्रेरणा मुझे सच्ची प्रेरणा नहीं मालूम होती। और अगर उस भूखे, कंकाल इन्सान के वहीं सड़क की धूल में पड़े रहने का कारण सिर्फ इतना होता कि आदमी में दया नहीं रह गई, तो मुझे यह लेख लिखने की प्रवृत्ति न होती। पर आज तो मुझे इसी पर विस्मय है कि समझदारी हमें यह समझाती मालूम होती है कि हमें, ज़िन्दा आदमियों को, उस मरते हुए प्राणी के झंझट में

नहीं पड़ना चाहिये। समझदार बेशक दयालु नहीं हो सकता। उसे दयालु नहीं होना चाहिये। दया का मतलब अहसान भी होता है। बेशक अहसान झूठ है। इससे दया भी झूठ है। पर समझ को तो समझदार होना चाहिये और आज का समझदार आदमी अगर अपनी राह चलता चला जाता है और मरने वाले को सड़क किनारे पड़ा रहने देता है, तो ज़रूर कोई बहुत बड़ी खराबी है। उस खराबी का नाम दया की कमी नहीं, क्योंकि दया की कमी को अथवा कि उसके अभाव को हम खराबी नहीं कह सकते। वह क्षम्य बात है। एक तरह से वह उचित बात है। नहीं, उससे कोई बहुत बड़ी खराबी मैं मानता हूं। और उसी खराबी को पाना चाहता हूं।

पड़ा पैसा धूल में से हर कोई उठा लेता है। बच्चे को भी कहना नहीं पड़ता, धूल झाड़कर वह उसे जेब में रखता है। ज़रूरत नहीं कि हम समझायें—'देखो बेटा, पैसा मिले तो उस पर दया करना, उस बिचारे को धूल में पड़ा मत रहने देना। यह सब ज़रूरत इसलिए नहीं रहती कि पैसे से उसका हित जुड़ गया है। इसलिए एकदम स्वाभाविक है कि पैसा दीखे और उसे उठा लिया जाय।

क्या सांस लेता आदमी तांबे के एक पैसे से भी कम कीमती है? मैं चाहता हूं कि विज्ञानवेत्ता से पूंछकर बता सकूं कि मरे आदमी तक में से कितना फ़ॉस्फ़ोरस और कितना क्या क्या मिल सकता है। फिर, मरे और जीते की तो तुलना क्या। चेतन आदमी में अगणित सम्भावनाएं हैं। आत्मा में क्या नहीं है? इस तरह जब कि मुरदा आदमी भी जाने कितने अनगिनती पैसों से ज़्यादा क़ीमती है, तब जीते इन्सान का तो पूछना क्या?

पर, आंखों देखी बात है कि पैसा उठा लिया जाता है; इन्सान को छोड़ दिया जाता है। उसकी क़ीमत पैसे की नहीं है। मैं जानना चाहता हूं कि यह अनर्थ कैसे होने में आया? क्यों यह जरूरी नहीं है कि जैसे पैसे की तरफ़ प्रीति का हाथ बढ़ता है, वैसे ही बल्कि उससे भी अधिक इन्सान की तरफ़ हमारा प्रेम का हाथ बढ़े? क्यों यह ज़रूरी है कि आदमी दया की प्रतीक्षा करे और तबतक उस ओर से अपने को अछूता बनाये रखे?

क्यों नहीं यह आदमी के स्वार्थ में शामिल हो कि वह दूसरे की मदद करे ? उसे दूसरे की मदद ही क्यों समझा जाय ? पैसे को उठाते हैं, तो यह हम अपनी मदद करते हैं। लेकिन अंग्रेजी में भी I help myself to it—यह वाक्य प्रयोग इन्सान के बारे में नहीं होता। वह मदद दूसरे की है इसलिए दया भाव से ही का जा सकती है—यह बेवकूफ़ी हममें क्यों घर कर गई है ? अगर पैसे का धूल में से उठाकर जेब में रखना उस पर उपकार करना नहीं है, तो रोगी को सड़क पर से उठाकर अस्पताल में रखने में भी उपकार की कहां आवश्यकता आ जाती है ? मैं मानता हूं कि जबतक उपकार और दया की आवश्यकता ऐसे कामों में मानी जायगी, अर्थात् जबतक उन्हें शुद्ध लौकिक हित और समझदारी का काम ही नहीं माना जायगा, तबतक हमारी समस्या हल नहीं होगी। यह हममें से हरएक के लिए स्वाभाविक होना चाहिये कि हम मृतप्राय को जीवनोन्मुख करें। एक आदमी जाता है तो क्या इससे मनुष्य-जाति की पूंजी कम नहीं होती ?

कहा जायगा कि मृत्यु है और रहेगी। मैं मानता हूं कि उसे रहना चाहिये। मैं आदमी की अमरता में विश्वास नहीं करता,क्योंकि आत्मा की अमरता में विश्वास करता हूं। इसलिए सचमुच इस बातपर मुझे दुख नहीं है कि कोई मर जाता है। पर मरने वाला कैसे मरता है,यह विषय मुझे अतिशय चिन्ता का मालूम होता है। हमें हक़ नहीं है कि किसी को द्वेष से, घृणा, क्रोध या निराशा से मरने दें। इससे मानव जाति का बन्धन बढ़ता है। एक भी आदमी हमारी उपेक्षा पर, हमसे तिरस्कार पाकर मरता है, तो वही हमारे माथे पर कलंक का टीका बनता है। सचमुच उस बिचारे सड़क के किनारे पड़े आदमी पर दया की जरूरत नहीं है। वह तो मरकर छुट्टी पा जायगा, पर ये जो बड़े-बड़े सरकारी दफ्तर हैं और चुंगी दफ्तर और सभा-समाजें समितियां और महलों में बसने वाले लोग और बोलने वाले नेता और लिखने वाले लेखक और छापने वाले अखबारी—इन सब पर तरस खाने की जरूरत जरूर है। वह जो सड़क

पर पड़ा है, खुद में कुछ नहीं है। वह हम सब अहंमन्यों की अहंमन्यता की आलोचना है, मनुष्य पर व्यंग है। वह हमारी शर्म है। जितनी देर वह जिन्दा लाश वहां पड़ी है, उतना ही हमारा पाप बढ़ता है। उसके मर जाने से वह पाप कायम होता है।

मानव-जाति की व्यवस्था के काम में करोड़हा करोड़ रुपया एक जगह जमा होता है और उससे फ़ौज और अस्त्र-शस्त्र, क़िले, अदालत, दफ्तर और सरकारें बनती हैं। वह शासन की सत्ताएं सुव्यवस्था के लिए हैं। इसलिए हैं (यानी होनी चाहियें) कि सब आदमी जियें और एक दूसरे का भला चाहते हुए मरें। अर्थात् वे सत्ताएं आदमियों के लिए हैं। सत्ता के लिए आदमी नहीं है। पर आज अन्धेर है तो यही कि उस सत्ता की रक्षा के लिए आदमी के अस्तित्व को माना जाय। आदमी यहां इसलिए है कि वह मरे और सत्ता जिये। वह ईंधन है कि सत्तावालों की रोटी पके। अर्थात उनका प्रश्न नहीं है जिनकी सुव्यवस्था के लिए सब कुछ है, बल्कि मानो व्यवस्था (Law and Order) ही वह देवी है जिस पर बलिदान होना व्यक्ति के व्यक्तित्व की सार्थकता है। सरकार ईश्वर है और आदमी उस महाप्रभु (सरकार) का सेवक होने के लिए है। फलतः सरकारी अमन सब कुछ है और आदमियों का मरना-जीना कुछ नहीं है। सुशासन के लिए आदमियों को मारा जा सकता है।

यही तो है जहां ख़राबी है। आदमी एक गिनती हो गया है। वह आत्मा नहीं है, पवित्र नहीं है। उसमें अपने आप में कोई क़ीमत नहीं है। दफ़्तर चल रहे हों, और सरकार की मशीन चल रही हो। जब वह चीज़ ठीक चल रही है, तब दो-चार या सौ-हज़ार आदमी भूखे और नंगे मर जांय तो क्या हुआ ? सुशासन की आरती तो अखंड चल रही है, उसका रिकार्ड दफ्तर में बराबर तैयार हो रहा है। यह जो आदमी सड़क के किनारे पड़े भिनकते हुए मर रहे हैं, यह तो अपने कर्मों का फल पा रहे हैं। बाकी हमारा बजट देखो, हमारी रिपोर्टें देखो, हमारे कारखाने में चल कर उसका इन्तज़ाम देखो। तब तुम्हारी आंखें खुलेंगी

कि सभ्यता और उन्नति कहां पहुंच गई है। उस घृणित और सड़ी लाश को क्या देखते हो !

हां, मैं यही कहना चाहता हूं। मैं कहना चाहता हूं कि क़ीमत असल को छोड़ गई और नकल पर जा चढ़ी है। आदमी का बचाना असल प्राण का बचाना है, इसी से वह निष्फल है। और पैसे का बचाना यहां सफल है। आज की क़ीमतों की यही सबसे बड़ी आलोचना है। नहीं सवाल है कि तुम्हारी छाती कितनी बड़ी है। सवाल है कि उस पर लटकी तुम्हारी जेब कितनी भरी है। अन्दर से छाती चाहे पिचकी हो और क्षुद्र हो और उसमें और किसी के लिए समाई न हो, पर उसको ढंकनेवाली जेब अगर गर्म है, और चौड़ी है और मोटी है, तो सब ठीक है। नहीं चाहा जाता आज कि तुममें मनुष्यता हो। उसकी जगह तुम्हारे पास धन की पेटी है, तो अच्छा है। अर्थात् मूल्य आज हमारे उलटे हैं। हीरा आज फिक रहा है और कौड़ी को बटोरा जा रहा है। तभी तो देखते हैं कि पैसे पर हाथ लपकता है और आदमी पर लात चलती है।

ऊपर देखा, और वैज्ञानिक सत्य है, कि मुर्दा आदमी भी क़ीमत से खाली नहीं है। लोग मुर्दी हड्डियां बटोरते और बाहर भेजते हैं। व्यवसायी उनमें से लाभ लेते और आविष्कारक तथ्य निकालते हैं। विवेकी के हाथ क्या चीज उपयोगी नहीं ? विष्ठा भी वहां खाद है और कूड़े-कर्कट में से काग़ज़ बनता है। तो भी सड़क पर पड़े आदमी से सब आंख मोड़कर चले गये, जैसे कि उसको लेकर कोई लाभ का सौदा हो ही नहीं सकता।

मैं कहना चाहता हूं कि वह स्थिति सदोष है, जहां आदमी को बचाना किसी भांति लाभ का सौदा नहीं रह जाता। वह लाभ का सौदा नहीं है तभी तो हर कोई आदमी उस तरफ नहीं मुड़ता है। अगर हम चाहते हैं कि ऐसे दृश्य हमारे देखने में न आवें, तो कुछ ऐसा प्रबंध करना होगा कि भूखे को खाना, प्यासे को पानी और रोगी को उपचार देना हम में से हर एक के लिए लाभ का सौदा बन जाय। पुरानी क़ीमतें तो बदल

गई हैं, क्योंकि ईश्वर बदल गया है। पहले ईश्वर भक्तवत्सल था और दूसरे जनम में नेकी का इनाम मिल जाता था। इससे नेकी हर किसी के लिए लाभ का सौदा था। पर अब सिंहासन पर सरकार है और स्वर्ग की जगह तरह-तरह की सरकारी पदवियां हैं। स्वर्ग नेकी से मिलता था, पर रायबहादुरी धन से मिलती है। ईश्वर औरों की सेवा से खुश होता था, सरकार अपनी सेवा से खुश होती है। इसलिए पहले का लाभ का सौदा अब आकर टोटे का होगया है। इससे कोई उसके झंझट में नहीं पड़ता।

ओः, आप मोटर से उतरे हैं; आप रायसाहब हैं; अजी आपके कपड़े और शक्ल बतलाती है; आइये, आइये, धन्य भाग्य! तशरीफ़ लाइये। और तुम हटो, निकलो! ये दाग़ीले कपड़े लेकर कहां घुसे चले आ रहे हो? क्या—? बीमार! सड़क! —तो मैं क्या जानूं, उस ग़रीब को उठाने में कपड़े मेरे खराब होंगे। बस, बस, बको मत; चलो, हटो।

हमारा व्यवहार ऊपर के मानिन्द है। और उससे देखा जा सकता है कि मनुष्य के लिए मनुष्यता लाभ का सौदा नहीं है, बल्कि किसी क़दर अमनुष्यता इस वक्त सौदा है।

क्या कहा? आप नेकी की और उसके नेक फल की और ईश्वर की और जगत की भलाई की बात करते हैं? आप भोले हैं। आप ख्वाब में रहते हैं। युग बुद्धिवाद का है और आप में बुद्धि नहीं है। आप भावुक हैं। भावुकता के कारण आप सीधी उन्नति की सड़क पर से हट कर किसी सेवा-बेवा के चक्कर में पड़ना चाहते हैं तो पड़िए। पर हम बताते हैं कि वह लाभ का सौदा नहीं है।

और मैं यही कहना चाहता हूं कि जब तक हमारे मानसिक और सामाजिक मूल्य ऐसे नहीं हो जायंगे कि आदमी का लाभालाभ ही मनुष्यता के पैमाने में नापा जाय, अर्थात् जब तक आदमी धन से नापा जायगा मन से नहीं, तब तक हमारी लज्जा और ग्लानि के दृश्य हमारी आंखों के सामने आते ही रहेंगे।

वह आलीशान म्युनिसिपैलिटी की इमारत खड़ी है । उसके चारों तरफ बग़ीचा है और पुलिस के सन्तरी हैं । लेकिन उसके बाद मरभुखों की पांत अपने दारिद्रय और अपने मैलको खोले पड़ी है । म्युनिसिपैलिटी के महल के लिए क्या यह दृश्य कलंक का नहीं है ? और हम म्युनिसिपैलिटी के उस मेम्बर को सबसे ज्यादा चाहते हैं, जो सबसे अच्छे कपड़े पहनता और सबसे अच्छा बोलता है । नगर-पिता हम उसे बनाते हैं, जो सेवा की बकवास करता है कि सेवा का काम न करना पड़े ।

पर सच यह है कि मनुष्य का लाभ मनुष्यता का लाभ ही है । इससे वह कुछ भी लाभ का सौदा नहीं है, जिससे मनुष्यता की पूंजी लुटती है । इस बात से आंख बचाकर जो लाभ के सौदे के फेर में पड़े हैं, वे अपने को भुलावा दे रहे हैं । वह दिन आनेवाला है कि हम देखेंगे संचित धन आदमी का गौरव नहीं, वह आदमी का कोढ़ है । और मालदार बनने की इच्छा मनुष्यता की निधि में नक़ब लगाकर चोरी करने की इच्छा से कम या भिन्न नहीं है । आज हम अपने लाभ को दूसरे के अलाभ में देखते हैं । हमारी जेब में जो आता है, वह दूसरे ही की जेब में से तो आता है । किसी को दरिद्र रखे या बनाये बिना हम मालदार रह या बन नहीं सकते । निपट दरिद्रता की तस्वीर से हम डरते हैं, तो अपनी धनाढचता की आकांक्षा से हमें डरना होगा । नहीं तो अपने ही रोग का दूसरा पहलू हमारी आंखों के आगे आने से बच नहीं सकता । धनी धन में बन्द नहीं हो सकता । और कितना भी बन्द रहे, अपनी आत्मा के दैन्य के अनुभव से वह नहीं छूट सकता । आदमी लाचार है कि मरे और लाचार है कि जाने कि धन साथ नहीं जाता । इसी तरह वह लाचार है कि पाये कि धन बटोरना बखेड़ा ही बटोरना है और एक जगह धन का इकट्ठा होना शरीर में खून के इकट्ठा होकर गिल्टी बनने के समान है ।

तो भी, हम भ्रम को पोसते हैं । क्योंकि चारों ओर से उसकी सुविधा है । आसपास हमारे सब के मनों में सोने की छड़ी बस गई है । उससे

आदमी को नापा जाता है। हममें उस रोग का बीज है ही। पड़ोसी से अपने को बढ़कर मान सकें, तभी हमें सुख मिलता है। अपने को घटकर मानने को लाचार हों, यही दुःख का कारण है। बस, इस तरह मेरे-तेरे की तराज़ू में हम लटके रहते हैं। वह तराज़ू है ही राग-द्वेष की। उसकी डंडी अहंकार के हाथ में है। उसके बाट सोने-चांदी के हैं। और बस, उन्हीं बाटों पर अपना लाभालाभ तोलकर हम चला करते हैं। पर तराज़ू ही वह खोटी है। क्योंकि मेरा-तेरा ही ग़लत है। पड़ोसी से बड़ा बनकर जो सुख मैंने माना है, वह सुख मेरे हाथ में कहां, वह तो पड़ोसी की मुट्ठी में है। अपने को वह छोटा न माने तो मेरे बड़प्पन का सुख भी किरकिरा हो जाता है। इससे मेरा असल सुख तो पड़ोसी को सुखी बनाने में है। क्योंकि यह सुख मुझ से कोई छीन ही नहीं सकता। इस ढंग से देखने पर जो जितना लाभ का सौदा समझा जाता है, वह उतना ही नुक़सान का हो जाता है। क्योंकि अहंकार का फूलना आत्मा का क्षीण होना है। अभिमान आत्मा का शत्रु ठहरा। धन अभिमान की गांठ है। धन की दुनिया में सबसे बड़ा सत्य इज़्जत है जो कि ख़ुद झूठ है। इज़्जत में तुलनात्मक भाव है। मेरी नाक ऊंची होने का मतलब ही यह है कि वह दूसरे से ऊंची है। संसार ऐसे ही चलता है। पर मुक्ति ऐसे थोड़े ही मिलती है।

मैं मानता हूं कि परस्पर की सहायता को भलाई की कोटि से उतार कर स्वभाव की कोटि तक हमें लाना होगा। भलाई मानो एक अतिरिक्त वस्तु है। मानो वह कोई उपकार है। यानी हम उस पर गर्व कर सकते हैं। पर, यह तो बड़ी भारी भूल है। मैं जानता हूं कि अभिमान को जो उससे एक प्रकार की सेंक मिलती है, उसके कारण बहुधा उपकार कर्म किया जाता है। इसीलिए मैं यह कहता भी हूं कि भला करके दूसरे से ज़्यादा हम अपना भला करते हैं। इससे भलाई का श्रेय कैसा ?

शुरू में मैंने यही बात उठाई थी कि भलाई जबतक हमसे दूर की वस्तु रहेगी, तबतक काम नहीं चलेगा। हममें से अपने को भला आदमी

कहने को शायद ही कोई तैयार हो। पर समझदार अपने को सब मानते हैं। हम सब स्वार्थी हैं कि नहीं, अपना नफ़ा-नुक़सान देखते हैं। हम सब समझदारी में समान हैं। मैं यही कहना चाहता था कि जिसको नेकी कहकर सामान्य से ऊंची कोटि दी जाती है, वह समझदारी (Common-Sense) की बात होनी चाहिये। अर्थात् सामान्य बुद्धि की दृष्टि से नेकी का काम हमारे लिए लाभ का सौदा भी होना चाहिये।

यहां आकर मैं मानव-समाज के व्यवस्थापकों को दोष देता हूं। वे इन प्रकृत मानवीय मूल्यों के विकास में सहायक नहीं हो रहे हैं। वे जिस अंश में अपने को शासक मानते हैं और सेवक की भांति व्यवहार नहीं करते हैं, उतने ही अंश में वे सदोष हैं। उतने ही अंश में वे झूठी क़ीमतों को मजबूत करते हैं और असली कीमतों को उभरने से रोकते हैं। वे इन्सान को इन्सान बनने की ओर प्रेरित नहीं करते बल्कि उसमें बड़ा बनने, ऊंचा और अमीर बनने की लालसा पैदा करते हैं।

मैं मानता हूं कि आदमी में आदमी के प्रति जो कुत्सा, ईर्षा, उपेक्षा और अवहेलना के भाव देखने में आते हैं, वे मूलतः इसी अहंप्रेरित जीवन-नीति के पालन करने के कारण बनते हैं। सत्ता अधिकांश उसी पर खड़ी होती है। व्यक्तियों में आपाधापी की वृत्ति को मूल से नष्ट करने में शासन-सत्ता का हित नहीं है। इससे जनता के ऐक्य से उसे डर लगता है, क्योंकि जनता का अनैक्य शासन का समर्थन है। शासन का मंत्र है, भेद। फूट डालो और राज करो। जन-समाज में श्रेणियां डाल कर शासन चलाया जाता है। ऊंच और नीच, अमीर और ग़रीब, इस तरह के भद सत्ता के लिए बहुत ज़रूरी है। क्योंकि उस भेद के कारण सत्ता अनिवार्य बनती है। दो लड़ें तो बीच-बचाव का काम हाथ में लेने के लिए तीसरा आ ही जाता है।

इसी से हितों की अनेकता पैदा करके शासन सत्ताएं मज़बूत बनती ह। सब को अपने-अपने स्वार्थ की पड़ती है। इस स्वार्थ की वृत्ति को गहरा करके मानव जाति के व्यवस्थापक अपनी कुर्सी को निश्चिन्त बनाते

हैं। पर यह भी निश्चित है कि इस तरह वह अपनी कुर्सी को कलंकित करते है। भेद पर बनी व्यवस्था टिकने वाली नहीं। आदमी के भीतर स्वार्थ है तो निस्वार्थता भी है। यानी स्वार्थी आदमी में ही यह प्रतीति निवास करती है कि दूसरे की हानि पर पलने वाला स्वार्थ मेरा सच्चा स्वार्थ नहीं है। सच्चा स्वार्थ मेरा ही वह है जो दूसरे के स्वार्थ के साथ अभिन्न है।

इस तरह यह हालत बहुत दिनों तक रहनेवाली नहीं है कि लोग सड़क के किनारे पड़े जीते कंकाल को देखते हुए निकल जांय। जल्दी वह समय आ जायगा कि जब अपने व्यवस्थापकों से हम पूछेंगे कि क्यों तुमसे इतनी चूक हुई कि वह आदमी सड़क पर पड़ा हुआ है ? तुम हकूमत के लिए नहीं हो,व्यवस्था के लिए हो। तुमको हाथ का हुनर तो कोई आता नहीं था, तुमको और काम का न जान कर यह काम सौंपा गया है। पर तुममें यह पुरानी बू अबतक मौजूद है कि तुम अपने को अफसर समझो और उसमें भूल जाओ ? ध्यान रहे कि तुम सेवक हो, तुम मालिक के विश्वास को खो नहीं सकते। जो काम तुम्हें सौंपा गया है उसमें चूकते हो, तो जाओ, अपना रास्ता देखो।

आप सोचिए कि जब लड़ाई हो रही हो, तो बारूद को बर्बाद करने वाला आदमी कितना गुनहगार है। ईश्वर की सृष्टि में हर आदमी बारूद के गोले के मानिन्द है। उसे बर्बाद होने दिया जा सकता है; उससे मौत का काम लिया जा सकता है, या उससे जिन्दगी का काम लिया जा सकता है। मनुष्य जाति के व्यवस्थापकों का न्याय एक दिन इसी तराजू पर किया जायगा कि उन्होंनें ईश्वर की पूंजी का क्या बनाया ? कितना खोया, कितना कमाया ? आदमी आदमी में जितनी एकता, निस्वार्थता बढ़ेगी वह कमाई है। जितना उनमें अनैक्य और स्वार्थ बढ़ेगा, वह हानि है। अन्त में देखा जायगा कि आदमी का व्यवस्थापकों ने क्या उपयोग किया है ? कितनों की सम्भावनाएं नष्ट होने दीं या प्रस्फुटित होने दीं? कितनों को ईश्वर की समता में खिलने दिया ? और कितनों को अवरुद्ध

रखा ? आदमी के अन्दर कितनी हिंसा (स्वार्थ) को पोषण दिया और कितना उसमें अहिंसा (सेवा) की शक्ति को जगाया ?

व्यक्ति एक शक्ति का पुंज है। व्यवस्थापक का काम है कि उस शक्ति का अधिकाधिक उपयोग करे। उससे इसी का हिसाब मांगा जायगा। यह जो सड़क पर आदमी पड़ा है—किस हक से उसे वहां पड़ा रहने दिया गया है ? सदा से तो वह ऐसा न होगा। किसी मां का वह बेटा होगा, कभी जवान रहा होगा, मन में उमंग और आशा होगी। किसी के लिए उसमें प्रेम होगा। चाहता होगा कि मैं अपने को दे डालूं।......वही आज यहां क्यों है ? उसकी जवानी और उसका प्रेम और उसकी मनुष्यता क्यों हवा में उड़जाने दी गई ? क्यों वह आदमी सफल और सार्थक नहीं हो सका? क्यों वह यहां सड़क पर मनुष्य का तिरस्कार पाकर और अपने मन में मनुष्य के लिए तिरस्कार भरकर रोग की गांठ के मानिन्द यहां पड़ा हुआ है ? क्यों जो प्रेम विकीर्ण कर सकता था घृणा फैला रहा है ? कौन उसके मन की जानता है। शायद लोग उससे जितनी घृणा करते हैं, उससे कहीं तीव्र घृणा उनके लिए उसमें है। इस तरह उस पड़े हुए आदमी को केन्द्र बनाकर यह घृणा का चक्र सारे वायुमण्डल में फैलता जा रहा है। जो प्रीति बखेरने के लिए ईश्वर की ओर से यहां आया है, वही आदमी जब नफरत की गन्दीली गांठ बनकर आम सड़क पर पड़ा हुआ है, तब हमारे व्यवस्थापक कैसी सुव्यवस्था और शासक कैसा शासन कर रहे हैं ? क्यों न कहा जाय कि वे कोई व्यवस्था नहीं कर रहे हैं, बस ढोंग और आडम्बर कर रहे हैं !

नये-नये अस्पताल खुल रहे हैं और फण्ड हो रहे हैं। अच्छा है कि वह सब हो। पर महाप्रलय और महाव्याधि का बीज जो घृणा है और जिसके कीटाणु उस व्याधि के विषम रोगियों में से फूट कर चारों ओर फैल रहे हैं—उसकी ओर भी किसी का ध्यान है ? बल्कि मुझे कहने दीजिए कि व्यवस्थापकों के खुद के रवैये से वे कीटाणु बढ़ते और फैलते हैं। व्यवस्था पक अभिमानी है और अभिमाम नीची श्रेणी के

आदमी में असन्तोष और द्वेष पैदा करने का कारण होता है। इस तरह व्यवस्थापक अस्वस्थ है और वह अस्वास्थ्य पैदा करता है।

हम न जानें, पर सभ्यता के वैभव के नीचे यह कीड़ा लगा हुआ है। हम क्या इधर-उधर की बात करते हैं। छोटे-मोटे रोगों के शमन का उपाय करते हैं। वह करें, पर अपने बीच के उस महारोग को भी तो पहचान लें। वही है जो आदमियों की शक्ति को आपसी सहयोग में समृद्ध नहीं होने देता और आपसी स्पर्धा में बरबाद कर देता है। वही है कि जिससे विषमताएं पैदा होती हैं; विवाद, कलह, आन्दोलन और युद्ध पैदा होते हैं; जिसके कारण एक ओर भूख और दूसरी ओर ऐश देखने में आता है; जिसके कारण एक रंक है तो दूसरा राजा है।

मैंने कहा कि मौत में मुझे भय नहीं। वह तो जरूरी है। पर यदि हमारी व्यवस्था सच्ची हो तो कोई मौत घृणा का संचार करने वाली न हो। बल्कि वह प्रेम का संचार करे। सड़क पर पड़ा आदमी मरेगा तो अपने चारों ओर घृणा का एक वलय छोड़ जायगा। वह कटुता लेकर जायगा और सबके लिए बददुआ छोड़ जायगा। मैं मानता हूं कि वह बददुआ हमारे सिर टूटेगी। न सोचिए कि उसमें शक्ति नहीं है। रहीम ने कहा तो है कि निर्बल को न सताओ, क्योंकि उसकी मोटी हाय है। मुई खाल की सांस से क्या लोहा भस्म नहीं हो जाता? और मैं मानता हूं कि इस जगत को चलाने वाली मूल शक्ति का नाम प्रेम है। जितनी प्रकार की और शक्तियां हैं, सब उसकी रूपान्तर हैं। वही शक्ति आदमी की करनी से रुद्ध और क्षुब्ध होकर घृणा बन जाती है। उसको अशक्त मानना हमारा बड़ा भारी भ्रम है। वह घृणा संघटित होकर जाने क्या नहीं कर सकती? ताज उससे धूल में गिर गये हैं और तख्त उलट-पुलट हो गये हैं। क्रान्ति और नाम किसका है! आदमी की छाती के भीतर से, जैसे मानों धरती के गर्भ में से, हुंकार भरती हुई जब वह शक्ति उभर कर फूटती है, तब कौन उसके आगे टिकता है? इससे न समझा जाय कि प्रभुता की ही सत्ता है, त्रास की सत्ता ही नहीं है। रुंध कर,

इकट्ठा होकर वह कभी ऐसे प्रबल और अतर्क्य वेग से फूटता है कि ठिकाना नहीं।

शक्ति नष्ट नहीं होती। नष्ट कुछ नहीं होता। या तो वह उपयोग में आती है, नहीं तो चारों ओर को खाने दौड़ती है। आदमी सचमुच बारूद का गोला है। वह जिन्दगी में अगर करने लायक कुछ नहीं कर जाता, तो न करने लायक बहुत कुछ कर जाने को वह लाचार है। काम से नहीं तो सोच-विचार से करता है। वह या तो अपने जीवन से प्रकाश देता है या फिर अन्धकार और घृणा फैलाता है। प्रत्येक असफल जीवन अपनी जकड़ चारों ओर छोड़ जाता है, जो मनुष्य-जाति के विकास पर बेड़ी की तरह काम करती है।

हम भोले हैं अगर मानते हैं कि सड़क पर मरने को खुले पड़े आदमी से हमारा कोई वास्ता नहीं है। हम उसको लांघ कर जा सकते हैं, यह समझना भूल है। व्यवस्था न समझे कि उस भुखमरे को भूख से मरने के लिए छोड़कर वह स्वयं सुरक्षित रह जाती है। हम जीते होकर उसे मरने के लिए छोड़ दें, पर वह मरकर हम जिन्दों को नहीं छोड़ेगा। क्योंकि ईश्वर के कानून में शक्ति नष्ट नहीं होती और उस मरने वाले की छाती में जितनी घृणा भर गई थी, वह भी व्यर्थ होने वाली नहीं है।

घृणा उसी तरह शक्ति है जैसे प्रेम। उलट चला प्रेम घृणा है। दो हजार बरस नहीं हुए कि ईसा मरा। मरना सब को है। पर ईसा की छाती में मरते समय जो प्रेम भरा हुआ था, वह क्या व्यर्थ गया? नहीं, व्यर्थ नहीं गया। ईसाइयत उसी का नहीं तो किसका परिणाम है? ईसा की स्मृति में से और उसके उपदेश में से और उसके प्रेम में से वह रौ आई कि मनुष्यता मिलती चली गई और सत्ताएं उखड़ती चली गईं।

हम कहते हैं कि ईसा की मृत्यु आदर्श थी। बिचारा सड़क पर मरने वाला क्या यातना पायेगा उसके मुकाबले जो कि ईसा ने पाई। फिर भी ईसा की मृत्यु आदर्श थी और उस भुखमरे की मृत्यु कलंक होगी। कारण, मरते समय ईसा की आत्मा में से प्रेम के फुहार छूट रहे थे, उधर

वह आवारा मरेगा तो उसमें से घृणा के छींटें ही चारों ओर उड़ रहे होंगे।

मैं चाहता हूं कि इसी बात को हम पहचानें। सड़क पर पड़े उस भिखारी को उपकार के ख़याल से बचाने के लिए हम न ठहरें। बल्कि देखें कि वह तो आग है, जिससे हमारा दामन बचा नहीं रह सकता। आग ठहरे तो सब भस्म हो जायगा। इससे हम खुद बचें नहीं, न व्यवस्थापक को बचने दें। व्यवस्थापक हमारा भूला है। दफ्तर की फ़ाइलों में वह अपने दिल को खो बैठा है। हमारा काम है कि हम उसको चेताएं। कहें कि ओ दफ्तर के मेरे भाई, तुम्हारा कलंक सड़क पर पड़ा हुआ तुम्हारी शर्म को उघाड़ रहा है। और नहीं, तो अपनी शर्म को ढकने का प्रबन्ध तो करो। कहां है तुम्हारा अस्पताल और ऐम्बुलेन्स गाड़ी? फ़ौरन भेजो और फ़ौरन इन्तज़ाम करो। फाइल थोड़ी देर के लिए छोड़ दो।

इस अपने घर में लगी आग को बुझाने में एक मिनट दे दोगे तो फिर पीछे तुम्हीं चैन से रहोगे। नहीं दोगे तो फ़ाइलों समेत अपने घर में ही तुम जल मरोगे।

जो घृणा और अपमान की आग से फुंक रहा है, उसको बुझाने में देर करना उस आग को न्यौता देना है। इसमें उपकार की बात नहीं है, एकदम स्वार्थ की बात है। सड़क पर पड़े पैसे को उठा लेने में एक क्षण हमें सोचने की ज़रूरत नहीं पड़ती। वहां हमारा स्वार्थ है। पर उससे कहीं घनिष्ट स्वार्थ सड़क पर पड़े आदमी के साथ हमारा वाबस्ता है। एक बार पैसे को तो न भी उठायें, पर आदमी को तो उठाने की सोचना ही पड़ेगा।

मैं व्यक्ति की दिक़्क़तें जानता हूं। व्यवस्था का दिल काग़ज़ी है। काम वहां का दफ़्तरी है। व्यक्ति की सद्भावना का असर वहां नहीं पड़ता, या बहुत देर से पड़ता है। अकेले आप उस ज़िन्दा लाश को कैसे उठाइये? मदद किसकी लीजिए? ऐम्बुलेन्स कहां से मंगाइये? अस्प-

ताल की परेशानियां और ज़िल्लत कहां तक झेलिए ? इत्यादि। और यह सब सोच कर मानो मन पर पत्थर रखकर आप उस जीवित मौत को देखते हुए निकल जाते हैं। और हैल्थ-अफ़सर या सिविल सर्जन या और अधिकारी व्यवस्थापक इधर से गुज़रते हैं, तो अधिक सम्भव तो यह है कि वह मोटर में गुज़रें और किसी अरुचिकर दृश्य के लिए खाली ही न हों। या आंखों वह दृश्य पड़ भी पाय तो उनके संवेदन को छू न सके—क्योंकि वह आदमी सरकारी हैं।

पर मैं नहीं जानता कि बिना कष्ट उठाये कोई आग कैसे बुझ सकती है। यह सही है कि कष्ट उसी को उठाना पड़ेगा कि जिस की आंख आग देखती है और जिसका मन उसकी झुलस पाता है। और जिसको झुलस लगती है वह अपनी ख़ातिर कष्ट उठायेगा ही। वह फिर उपकार और दया आदि की बातों के लिए खाली हो कहां रहेगा ?

पर जो कहना है वह यह कि व्यवस्था अव्यवस्थित है और शासन वह भ्रष्ट है कि जहां ऐसे दृश्य मिलते हैं। व्यवस्थापक और शासक अगर पहले इस तरफ़ ध्यान नहीं दे पाते हैं और अपनी-अपनी तनख़्वाहों और भत्तों की बात उन्हें उससे पहले सूझती हैं, तो वे अपने अधिकार के पात्र नहीं।

नवम्बर '४१

: २ :

पैसा : कमाई और भिखाई

हमारे घरों में बच्चा कभी पढ़ने के बजाय खेलता है तो श्रीमती गुस्से में आकर कहती हैं "दुष्ट, पढ़ता क्यों नहीं है ?"। वही गुस्सा स्थायी होने पर दुश्चिन्ता का रूप ले लेता है। तब मा कहती है, "मेरा क्या, खेलता रह, ऐसे तू ही आगे भीख मांगता फिरेगा। पढ़ेगा-लिखेगा तो हाकिम बनेगा, नहीं तो दर-दर भटकेगा।"

लड़का भीख मांगने या पढ़ लिख कर अफ़सरी करने के अन्तर को न समझता हुआ झल्लाकर कह देता है कि "हां, हम मांगेंगे भीख।"

मां कहती है, "हां, भीख ही तो मांगेगा। इन लच्छनों और तुझसे क्या होगा ? बेशरम, बेशऊर, दुष्ट !!" साथ दो एक चपत भी बच्चे की कनपटी पर रख देती है।

इस पर बालक का नियम बंधा हुआ नहीं है कि वह क्या करेगा। कभी रोकर बस्ते में मुंह डाल कर बैठ जायगा, तो कभी मुंह उठा कर चलता बनेगा और बस्ते को हाथ न लगायेगा। कभी विरोध में भाग कर धूप में और भी जोर शोर से गुल्ली-डंडा खेलने लग जायगा। और कभी... आशय, उसके मन का ठिकाना नहीं है।

आइये उस भिखमंगे की बात को ही यहां समझें जिसके होने की संभावना से मां डरती और बालक को डराती है। उस दिन अख़बार में पढ़ा कि एक आदमी पकड़ा गया। वह तरह-तरह के क़िस्से कहकर स्टेशन पर यात्रियों से मांगा करता था। ज़रूर उसमें अभिनय की कुशलता

होगी। विद्यार्थी अपने को कहता था, तो विद्यार्थी लगता भी होगा। इसी तरह अनाथ बालक, संकटापन्न पिता, भटका यात्री, सम्भ्रान्त नागरिक आदि-आदि बता कर सुना गया कि वह हर रोज खासी 'कमाई' कर लेता था। उसके डेरे पर पांच हज़ार की जमा मिली!

वह ऐसे पांच हज़ार जमा कर पाया। सुनते हैं दस-बारह वर्षों से वह यह व्यापार कर रहा था।

हमारे पड़ौसी ने पांच वर्ष व्यापार किया और ढाई लाख रुपया पैदा किया।

पर भिखारी जेल में है और पड़ौसी लाला रायबहादुर हैं। कारण, भिखारी की कमाई कमाई न थी और लाला की कमाई कमाई है। भिखारी ने ठगा और लाला ने कमाया। तभी पहला कैदी है और लाला मजिस्ट्रेट की कुर्सी पर हैं। यानी भीख और कमाई में फ़र्क़ है।

अगर हाथ फैलाने वाले ने अपने पीछे कुछ जोड़ रखा है, तो उसका हाथ फैलाना धोखा देना है। तब क़ानून उसे देखेगा।

सज़ा मिलने पर जब हम ऐसे आदमी के बारे में सोचते हैं, तो दया नहीं होती, ग़ुस्सा आता है। हम उसे धूर्त (दूसरे शब्दों में, चतुर) मानते हैं। हमें उत्सुकता होती है कि जाने उसने कैसे इतना रुपया जमा कर लिया होगा। बदमाश अच्छा हुआ पकड़ा गया और सजा मिली। हो सकता है कि उसकी सज़ा पर हमारे सन्तोष का कारण यह हो कि हमारी भरी जेब पर से इसतरह एक ख़तरा दूर हुआ। और झुंझलाहट का यह कारणहो सकता है कि पांच हज़ार रुपये उसके पास क्यों पहुंचे, जो कहीं हमारे पास आते!

अब दूसरे भिखारी की कल्पना कीजिये जो सचमुच असहाय है। जितने दाने उसके हाथ पर आप डाल देंगे, उतने से ही वह अपनी भूख मिटाने को लाचार है। इस आदमी को पकड़ने के लिए क़ानून का सिपाही कष्ट नहीं करता; क्योंकि आसानी से लात घूंसे मार कर या मनुष्यता हुई तो धेला-पैसा फेंक कर उसे अपने से टाला जा सकता है।

अब मन की सच बात कहिए। वह चतुर ठग और वह निपट भिखारी, दोनों में आपको कौन कैसा लगता है? चतुराई के लिए आप एक को जेल देंगे और मोहताजपनके लिए दूसरे को दया। यानी एककी व्यवस्था करेंगे, दूसरे को उसके भाग्य पर छोड़ेंगे। सच पूछिए तो दीन भिखारी से आपको कष्ट और अमीर भिखारी से आपको गुस्सा होता है। अर्थात् जो ठगी से अपनी सहायता कर लेता है, वह आपको ताहम आदमी मालूम होता है। पर जो उतना भी नहीं कर सकता और निपट आपकी दया पर निर्भर हो रहता है, वह आपकी आंखों में उससे गया बीता है। मालूम हो जाय कि यह जो सामने आपके हाथ फैला रहा है, झोली में उसी के हज़ार रुपये हैं, तो आप उसे ग़ौर से देखेंगे, उसमें दिलचस्पी लेंगे। अपनी कक्षासे उसे एक दम अलग और तुच्छ नहीं मानेंगे।

पर वह भिखारी जो काया से सूखा है और पेट का भूखा, आप चाहेंगे कि वह आपकी आंखों के आगे पड़ ही जाय, तो जल्दी से जल्दी दूर भी हो जाय। आप यथाशीघ्र पैसा फेंककर या रास्ता काटकर उससे अपने को निष्कंटक बना लेना चाहेंगे। अर्थात् झूठ-मूठ के भिखारी को आप सह सकते हैं, सचमुच के भिखारी को नहीं सह सकते। दूसरा हमें अपनी ही लज्जा मालूम होती है।

अब एक बात तो साफ़ है। वह यह कि पैसा चाहिए। पेट को अन्न चाहिये और अन्न यद्यपि धरती और मिहनत से होता है, पर मिलता वह पैसे से है। पैसा पहना नहीं जाता, खाया नहीं जाता; उससे किसी का कुछ भी काम नहीं निकलता। तो भी हर एक को हर काम के लिए चाहिये पैसा ही। यानी पैसे में जो तांबा है, उसे खाओ तो चाहे वह किसी क़दर ज़हर ही साबित हो, फिर भी पैसे की क़ीमत है। ऐसा इस-लिए कि वह क़ीमत उस (तांबे) की नहीं, हमारी है। हमने वह क़ीमत दी है, इससे हमतक और हम पर ही वह आयद है। पैसा क्या रुपया फेंकिए कुत्ते के आगे, वह उसे सूंघेगा भी नहीं। रोटी डालिए, तो आपकी इस उदारता के लिए जाने कितनी देर तक अपनी पूंछ हिलाता रहेगा। यानी,

फ़र्जी के सिवा रोटी से अधिक पैसे में मूल्य नहीं है।

पैसे के मूल्य को हम कैसे बनाते हैं और हमी उसे कैसे थामते हैं, यह एक दिलचस्प विषय है। लोग कहेंगे 'अर्थ-शास्त्र' का, पर सच पूछिए तो यह काम-शास्त्र का विषय है। काम का अर्थ यहां कामना लिया जाय। कामना के वश व्यक्ति चलता है। इस तरह पैसा असल मानव-शास्त्र का विषय है। व्यक्ति के मानस से अलग तांबे के पैसे की अठखेलियों को समझना बिजली के बटन से अलग उसके चिराग़ को समझने जैसा होगा। कठपुतली खेल कर रही है, नाच-कूद दिखाती है, पर पीछे उसके तार थमे हैं बाजीगर की उंगलियों में। पर वह तार हमें दीखता नहीं, बाजीगर दुबका है और सामने कठपुतलियों का तमाशा दीखता है। बच्चे तमाशे में मगन होते हैं, पर समझदार तमाशा देखने या दिखाने के लिए कठपुतलियों से नहीं बाजीगर से बात करेंगे। पैसे के बारे में भी यही मानना चाहिए। उसका व्यापार आदमी के मन के व्यापार से वैसे ही दूर है, जैसे आदमी की उंगली से कठपुतली या बिजली के बटन से लट्टू दूर है। बीच का तार दिखता नहीं है; इसलिए वह और भी अभिन्न भाव से है, यह श्रद्धा रखनी चाहिए।

पर कहीं यह अर्थ को लेकर अनर्थ व्यापार न समझा जाय। हम शास्त्रीय अर्थ नहीं जानते। किंतु देखा है कि अर्थ-शास्त्र सीखने वाला उस अर्थ-शास्त्र को सिखाने वाला ही बनता है। उस शास्त्र-ज्ञान के कारण कभी अर्थ-स्वामी तो बनता हुआ वह पाया नहीं गया। अपने अर्थ-शास्त्र को पढ़वाने के लिए ऊपर का अर्थ-स्वामी ही अर्थ-शास्त्रियों को अपने अर्थ में से वेतन देने का काम ज़रूर करता रहता है। इससे प्रकट है कि अर्थ का भेद अर्थ-शास्त्र में नहीं है, अन्यत्र है।

थोड़ी देर के लिए पैसे का पीछा कीजिए। इस हाथ से उस हाथ, उस दूसरे से फिर तीसरे फिर चौथे, इस तरह पैसा चक्कर काटता है। उस बेचारे के भाग्य में चकराना ही है। कहीं वह बैठा कि लोग कहेंगे कि क्यों रे, तू बैठा क्यों है, चल अपना रस्ता नाप। किन्तु पैसे को अपना

यात्रा में तरह-तरहके जीव मिलते हैं। एक उसे छाती से चिपटाकर कहता है कि हाय-हाय, मेरे पैसे को छेड़ो मत,मेरी छाती के नीचे उसेसोने दो।

पर, पैसे बेचारे की क़िस्मत में आराम बदा हो तों सभी कुछ न रुक जाय। इससे यदि उन प्रेमी का प्रेम पैसे की काया को छोड़ना नहीं चाहता, तो उसका बड़ा दुष्परिणाम होता है। यह तो वही बात है कि ख़ून हमारे बदन में दौड़ रहा है और कोई अवयव कहने लगे कि तू कहां जाता है, यहीं मेरे पास रुक जा। फोड़े जो बदन में हो जाया करते हैं, सो क्यों ? किसी खास जगह ख़ून की गर्दिश ठीक नहीं होती, इसी वजह से तो। यह जुदा बात है कि फोड़े भी होते असल में शरीर की स्वास्थ्य-रक्षा के निमित्त हैं। ऐसे ही कौन जाने, समाज के शरीर में कंचन की काया के प्रेमी भी किसी अच्छाई के निमित्त बनते हों। पर फोड़ा फूटता है, और कंचन-प्रेम भी टूटता ही है। ऐसे, पैसा बीच में थक कर बेचारा सांस लेने को रुके, तो बात दूसरी; वैसे किसी के आलिंगन में गाढ़ी नींद सोने की उसे इजाज़त नहीं है। इस निरन्तर चक्कर से बेचारा पैसा घिस जाता है, मूरत और हरूफ़ उस पर नहीं दीखते, तब मुंह छिपा कर जहां से आया वहीं पहुंचता है कि फिर उसे पुनर्जन्म मिले।

अभी थोड़े दिन पहले रानी का रुपया खिंच गया। अब आपकी गद्दी के नीचे कोई रानी का सिक्का सोया मिल जाय, तो क्या आप समझते हैं उसे सोलह आने को कोई पूछेगा ? अजी, राम का नाम लीजिए। सिक्के में क़ीमत थोड़े थी। जैसे डाली गई थी वैसे वह क़ीमत खींच ली गई। अब रानी के सिक्के क्या हैं, ठनठन गुपाल हैं। बस मूरत देखिए और मन भरिये।

इस पैसे की यात्रा का वर्णन कोई कर सके, तो बड़ा अच्छा हो। शास्त्रीय प्रतिपादन नहीं,वह तो आडंबर है और बेजान है। वर्णन,जैसे कि अपनी यात्रा का हम करते हैं। यानी सचित्र और जीवन की भाषा में। मैं मानता हूं कि पैसे के तथ्य का किसीको अनुभव हो कि और उसके पास कल्पना भी हो, तो वह पैसे की असलियत पर एक अत्यन्त सुन्दर उपन्यास

हमें दे सकता है। पर, पैसे के साथ दुर्भाग्य लगा है। वह कमबख्त है शक्ति। जिसने भी उस शक्ति को समझा, वही उस शक्ति को बटोरने में लग गया। अब कहा जायगा कि इस जीवन में शक्ति का संग्रह भी न किया जाय तो आखिर किया क्या जाय? कुछ कहेंगे, धर्म का संग्रह किया जाय। और सच, कुछ जैसे सामान बटोरते हैं वैसे पुण्य भी बटारते देखे जाते हैं। पर हाय, धर्म का संग्रह ही किया जा सकता, तो क्या बात थी! तब ऋषि कुटी न बना कर गोदाम बनाते। अरे, वह तो सोने की जगह सांस के संग्रह के उपदेश जैसा है। अर्थात् अपने को लुटाओ, इसीमें धर्म का अर्जन है। अब इस बात को कोई कैसे समझे और कैसे समझाये? पैसा खरचे बिना कभी जुड़ता है? और जो रुपया छोड़ सकता है, वही अशरफ़ी जोड़ सकता है। यह क्या हम रोज आंखों नहीं देखते कि जिसकी जहां मुट्ठी बंधी कि वह मुट्ठी उतनी ही भर रह गई। रुपये पर मुट्ठी लाने के लिए, पैसे पर उसे नहीं बंधने देना होगा। अर्थात् लाखों की कमाई हजारों लगाये (गँवाये) बिना न होगी। इसी तरह धर्म की कमाई धन उजाड़े बिना न होगी। बात यह है कि धर्महै प्रीति। प्रीति और शक्तिमें शत्रुता है। शक्ति के जोर से और सब हो जाय, प्रीति नहीं होती। इसलिए जो प्रीति कमाये, वह शक्ति खो दे।

पर यह में क्या कह चला? कह रहा था कि पैसे का उपन्यासकार चाहिये। वह पैसे की काया पर न रीझे। न उसकी शक्ति पर जूझे। बलिक उस के सत्य में ही वह तो अपनी आंख रखे। पैसेकी शक्ति दिखलायी तो भला क्या दिखलाया? यह तो माया दिखलानी हुई। उस पैसे की अकिंचित्करता दिखलाई जा सकेगी, तभी मानो उसकी सत्यता प्रगट होगी। जैसे कि आदमी प्रेम में अपने को खोकर पाता है, वैसे ही निकम्मा दिखला कर पैसे के असली मूल्य को पहचाना और बताया जा सकेगा।

मेरे हाथ में मानिए कि रुपये का एक नया सिक्का आया। वह कहां से आया? मैंने कुछ मिहनत की, उस मिहनत का किसी के अर्थ में उप-

योग हुआ। उपयोग के रास्ते मेरी मिहनत में से अपना रुपया, और ऊपर कुछ और भी अतिरिक्त, पाने की उन्हें उम्मीद है। इसलिए अपनी मिहनत का फल उन्हें देकर यह रुपया मैंने पा लिया। अब आता हूं घर। वहां श्रीमती जी बोलीं कि माथे की बिन्दी को कब से कह रही हूं, लाये? यानी अगले दिन मेरे हाथ से वह सिक्का बिन्दी वाले के यहां पहुंच जाता है।···इसी तरह हम कल्पना कर सकते हैं कि कैसे वह आदमियों की आवश्यकताएं पूरी करता हुआ परस्पर के आदान-प्रदान का काम चलाता है।

अब परस्पर का आदान-प्रदान पैसे के माध्यम से होता है, पैसे के उद्देश्य से नहीं होता। प्रेम में व्यक्ति अपने सर्वस्व का दान कर देता है। प्रेम वह है, जहां देनेके जवाब में लेने की भावना ही नहीं। अर्थात् मैं यहां चांदी के एक सिक्के की बात कर रहा हूं; प्रेम के क्षण में लाखों निछावर हो गये हैं। अर्थात् पैसा जो यहां से वहां घूमता फिर रहा है, वह अपनी ताक़त से नहीं, बल्कि हमारे मन की ताक़त से। यह नहीं कि धन में ताक़त नहीं है। ताक़त तो है, पर रेल के इंजन-सी ताक़त है। अब इंजन क्या अपनेआप चलता-फिरता है? यह कहना कि पटरी पर इंजन चलता है, ठीक है। पर हिन्दुस्तान की रेलों का इन्तज़ाम जिन सरकारी मेम्बर साहब के ऊपर है, सैकड़ों-हज़ारों इंजन और उनके चलाने वाले और उनके कल-पुर्ज़े समझनेवाले अपनी हरकत के लिए उनके ताबे हैं। और वह मेम्बर महाशय इंजिन पर नहीं, बल्कि कुछ और ही गहरी नब्ज़ पर निगाह रखते हैं। पर....सवारी गाड़ियां और मालगाड़ियां जाने कितने हज़ार व लाख टन सामान और इन्सान को खींचती हुई दिन-रात इधर से उधर आ जा रही हैं। अपने दफ़्तर में बैठे मेम्बर महाशय की क्या कहिए, उस रोज़ उनसे डबल वज़न का आदमी इंजन के नीचे आ गया था। उसका हाल अपनी आंखों क्या आपने देखा नहीं था? अजी, आदमी और आदमियत का तो वहां पता-निशान बाक़ी नहीं रह गया था, यहां वहां बिखरा मांस ही दीखता था।...हां यह है, पर दूसरी बात भी है। इंजनकी ताक़त सच है, पर उन मेम्बर साहब की ताक़त उस

सच का भी अंदरूनी सच है। उन्हीं की कलम तो थी जिससे पचास इंजन बेचारे बक्स में बन्द होकर विलायत से हिन्दुस्ताम लदे चले आये और चालीस एंजन, जो मानते थे कि हम में अभी सिसकने लायक़ कुछ जान है, उनकी एक न सुनी गई और अंजर-पंजर तोड़कर उन्हें लोहे के ढेर पर फेंक दिया गया।

चांदी का सिक्का जैसा सच है, लोहे का एंजन भी वैसा ही सच है। फ़र्क इतना ही है कि सिक्का छोटा और हलका होनेसे सचाई में इंजनकी निस्बत बड़ा और भारी है। इंजन इतना बोझलहै कि उसीसे वह सचाईमें हलका है। तभी तो चांदी के रुपये और सोने के पौंड से काग़ज़ी नोट क़ीमती होता है। कारण, वह चांदी-सोने से हलकी और सस्ती वस्तु काग़ज़ का बना है। अर्थात् नोट में अपनी असलियत उतनी भी नहीं है, जितनी सिक्के में है। लगभग अपनी ओर से वह शून्य है। हम उसमें डालते हैं, तभी क़ीमत की सचाई उसमें पड़ती है। इसीलिए जैसे-जैसे उन्नति होगी, काग़ज़ी सिक्का बढ़ेगा. धातु का सिक्का बेकार होता जायगा। सिक्के में क़ीमती धातु की ज़रूरत अविश्वास के कारण है। यानी वह झूठी क़ीमत है। फिर भी वह क़ीमत इसलिए है कि सच्ची क़ीमतों का अभी निर्माण नहीं हो पाया है। उदाहरण लीजिये.दस्तावेज़। बचन झूठा है, तभी दस्तावेज़ की सचाई आती है; क़ौल सच्चा हो, तो दस्तावेज़ बेकार हो जाना चाहियें।

इस सब का मतलब यह कि पैसे की क़ीमत और शक्ति आदमी की भावना की क़ीमत और शक्ति से अलग नहीं है। अर्थ-शास्त्र के नियम जीवन-शास्त्र के नियम से भिन्न नहीं हैं। यदि वे भिन्न से लगते हैं, तो इस कारण कि मनुष्य ने कामनामें अपनी स्वतन्त्रता देखी है, जब कि वह स्वतंत्रता निष्कामता में है। जो वह चाहता है और जिसको सुखका नाम देता है, समझता है उसकी कुंजी 'स्वर्ण' है। जैसे प्यासा हिरन रेगिस्तान पर की लू की झलझलाहट को पानी समझता है। पर स्वर्ण में सुख होता, तो स्वर्णाधिपों के पास वह दिखाई देता। किन्तु, पूछ कर

देखिये। मालूम होगा कि लाख के बाद करोड़ और करोड़ के बाद अरब पर आंख गड़ाये वे भागे जा रहे हैं,तो इसीलिए कि लाख में जो समझा था वह नहीं मिला और फिर करोड़ में जो समझा वह करोड़ में भी नहीं मिल रहा है।

हमने ऊपर देख लिया कि सिक्के में अपने आप में दम नहीं है। अगर एक में दम नहीं है, तो करोड़ में भी नहीं हो सकता। जिसमें आन्तरिक कुछ है ही नहीं, उसके पहाड़ जैसे ढेर में भी कुछ कहां से आ जायेगा ? मरीचिका में कुछ है तो यही कि वह मृगतृष्णा को प्यासा का प्यासा ही रखती है। धन भी जमा होकर अपनी इस सचाई को उजागर कर देता है कि मुझमें अपना कुछ नहीं है। मेरी कायामें तुम्हारी ही तृष्णा भरी है। तुम अपनी ओर से तृष्णा न डाल कर मुझ में कोई दूसरी भावना डालोगे, तो फिर वह भी मेरी सचाई हो सकेगी। पर तृष्णा की राह से लोगे, तो सिवाय इस तृष्णा के मैं तुम्हें और क्या लौटा सकूंगा ? मुझसे तुम्हें सुख नहीं मिलता, इससे मुझे प्यार करके भी तुम मुझे कोसते हो। पर कोसो मत,क्योंकि मैं खोखला हूं। तुम जो भरते हो,उसीसे मैं भर जाता हूं। इससे मैं इस लायक़ नहीं हूं कि मुझसे तुम कुछ चाहो या मुझे ही चाहो। क्योंकि तुम्हारी ही भूखी चाह मैं तुम्हारे आगे कर सकता हूं। इससे तुम्हें सुख नहीं होता, नहीं होगा। पर तुम मानते हो कि अभी मेरे परिमाण में कमी है, इससे मुझे और जोड़ते हो। मुझे ही जोड़ते, फिर भी मुझे ही कोसते हो। मैं बताता हूं कि मैं अन्दर से रीता हूं। मेरा सारा ढेर रीता है। जो तुम चाहते हो, वह मैं नहीं। मैं उसका द्वार हो सकता हूं और प्रार्थना है कि मुझे तुम द्वार ही समझो, अधिक न समझो। दरवाजे को ही जो तुम मंजिल समझोगे, तो दरवाज़ा इसमें क्या करेगा ? मंजिलकी तरफ़ वह तुम्हें बढ़ा सकता है। पर तभी,जब तुम उससे पारजाओ"

आज के ज़माने में बुद्धि इसी भूल में पड़ गई है। लिफ़ाफ़े को उसने ख़त समझा है। इससे ख़त नहीं पढ़ती, लिफ़ाफ़े को ही देखती समझती रह जाती है। इसीसे शाखा-विज्ञान बहुत बन गये हैं, और बीच का मेरुदंड सूखते रहने को छोड़ दिया गया है। यानी विद्याएं बहुत हो गईं

हैं, पर जो इन सब विद्याओं का आधार होना चाहिए, अर्थात् 'सर्व-भूतात्मरूप ब्रह्म' वह उपेक्षा में रह गया है। परिणाम यह है कि अवयव सब पकड़ते हैं और हृदय को सब छोड़ते हैं। इस प्रकार की खंडित विद्या क्या अविद्या नहीं है? क्या उस अविद्या का ही परिणाम आज के युद्ध की भीषणता नहीं है?

पर हम दूर आ गये। बात कमाई और भिखाई से शुरू हुई थी। कमाई किसे कहते हैं? धन अपने चक्कर पर आ जा रहा है। जैसे नदी बहती है; कुछ उसमें नहाते हैं, कोई उससे खेत के लिए पानी लेते हैं, कुछ उसको देखकर ही आनन्द प्राप्त करते हैं। नदी अनेकों के अनेक प्रयोजन पूरा करती हुई समुद्र में मिलने के लिए बहती ही चली जाती है। ऐसे ही धन अपने बहाव में सब के प्रयोजनों को पूरा करता हुआ चलते चले जाने के लिए है। इस प्रक्रिया में कमाई क्या है? सच कहूं तो उस कमाई का मतलब मेरी समझ में नहीं आता। हरिद्वार की गंगा प्रयाग आई; जो पानी हफ़्ते पहिले हरिद्वार था, अब प्रयाग आ गया। क्या इस पर प्रयाग यह सोच सकता है कि हरिद्वार से हमने इस हफ़्ते गंगा के इतने पानी की कमाई कर ली? प्रयाग ऐसा नहीं सोच सकता।

पर हम ऐसा सोच सकते हैं। क्योंकि हम बुद्धिमान हैं। मेरी तिजोरी मे आज दस हज़ार रुपये हैं। बाज़ार में बैठा था, तब गांठ में क्या था? यही सौ एक रुपल्ली होंगे। तीन साल में दस हज़ार रुपये की मैंने कमाई की! वाह, क्या बात है। मैं अपने से खुश हूं, कुनबे वाले खुश हैं, और सब मानते हैं कि मैं होनहार और कर्मण्य हूं। यह कमाई है।

अब चलिए, मैंने तो बाज़ार में तीन साल लगाये और घूमा फिरा और मिहनत की। पर वह देखिये, क्या भाग्य का सिकन्दर आदमी है! लड़ाई आई कि रंग में दो दिन में पन्द्रह हज़ार पैदा किये! हल्दी लगी न फिटकरी और देखते-देखते मालामाल हो गये! लक्ष्मी की लीला तो है। अब सब उस भाग्य के बली और लक्ष्मी के वरद पुत्र की ईर्षा करते हैं। यह कमाई है।

एक मजदूर टोकरी ढो रहा है। जेठ आ रहा है; लू चल रही है; पसीना बह रहा है और वह टोकरी ढो रहा है। सूरज छिप चला; थक गया है; घर पर इन्तजारी होगी, पर वह टोकरी ढो रहा है। आखिर लाला को दया आई। उन्होंने छ: आने दिये। यह छः आने की कमाई है!

एक मित्र हैं। उनकी खूबी यह कि वह अपने पिता के पुत्र हैं। उनके पिता की खूबी थी कि वह अपने पिता के पुत्र थे। और पीछे चलें तो पांच पुश्त पहले वंश में एक पुरुषार्थी पुरुष हुआ था। उसने सामन्ती जमाने में अपना गिरोह इकट्ठा करके एक नगर जीता और क़ाबू किया था। उसने अपने शत्रुओं पर विजय पाई, यानी उन्हें यमराज का घर दिखाया था। उस परम पुरुषार्थ के कारण उस पुरुष के पुत्र और उसके पुत्र और उसके पुत्र, इस तरह उस परम्परा के अन्तिम पुत्र होने की खूबी से मेरे मित्र की कमाई आज तीस हज़ार रुपये साल की है। वह कहां से है, उनकी जायदाद और जमींदारी कहां-कहां है,इत्यादि मित्र को पूरी तरह पता नहीं है। पर कमाई उनकी तीस हज़ार है!

एक और भाई साहब हैं। अत्यन्त कुशाग्र बुद्धि, और उदार और ज्ञानी और सुशील। वह कलक्टर कहलाते हैं। उनका काम है कलक्टरी। उनकी कमाई है पच्चीस हज़ार रुपया साल।

और एक वायसराय हैं। वायसरायगिरी करते हैं, जो बेहद ज़िम्मेदारी का काम है। उनकी कमाई की मुझे कूत नहीं। वह भी खासी होनी चाहिए, क्योंकि पसीने की वह नहीं है। पसीने की कमाई ही इतनी कम हा सकती है कि पेट न भरे। क्योंकि पेट भरेगा तो मेहनती मिहनत से जी चुरायेगा। इससे अक़्ल की ही कमाई को हक़ है कि वह लम्बी-चौड़ी हो। मिहनतकी कमाई अधिक होगी,तो उससे मिहनती का नुक़सान होगा।

खैर ऊपर तरह-तरह की कमाइयां गिनाई हैं। इन सब में दो बात सामान्य हैं, जिसकी वजह से वे सभी कमाई कहलाती हैं। एक तो यह कि कमाई करने वाला जेल नहीं जाता, इस कारण उसको चुराई या ठगाई हम नहीं कह सकते, कमाई ही कह सकते हैं। दूसरा यह कि हर

कमाई, जिसकी वह समझी जाती है, उसकी जेब (बैंक हिसाब) में आकर पड़ती है।

इस पर से दो मूल सिद्धान्त समझे जा सकते हैं:—

१—कहीं से चलकर जो रुपया हमारी जेब या तिजोरी में आये वह हमारी कमाई है।

२—शर्त यह कि उसमें हमें जेल न हो, यानी वह वैध हो।

अर्थात् वह सब रुपया हमारा कमाया हुआ है, और उस सब रुपये पर खर्च करने का हमारा हक़ है, जो इस तरह से या उस तरह से, इस जेब से या उस जेब से, हमारी मुट्ठी तक आ जाता है। सीमा यह कि इस तरह ख़र्च करनेवाला खुले समाज में हो, बन्द जेल में न हो।

सीमा की शर्त बहुत ज़रूरी है। कमाई और ठगाई में वही भेद डालने वाली रेखा है। जेल पा गये, तो तुम्हारी कमाई कमाई नहीं मानी जायगी। जेल पाने से बचे रहे, तो बेशक तुम्हारी कमाई कमाई है। और तब अपने धन के परिमाण में ही तुम्हारी ऊंचाई की नाप होगी।

यह तो हुआ; पर भीख से पैसा पाने की विधि को मैं कहां रखूं? उसमें भी पैसा आता है और जेल बची रहती है। भिखारी जेल पा गया तो गया। पर जेल के बाहर भिखारी के पैसे को कमाई का पैसा कैसे न माना जाय, यह मेरी समझ में किसी तरह नहीं आता है।

आप कहेंगे मेरी भाषा में व्यंग है। पर मैं सच कहता हूं कि कमाई अगर सच्ची हो सकती है तो वह भीख की ही कमाई है, नहीं तो कमाई शब्द ही एकदम झूठ है।

पैसा मेरी जेब में आना कमाई है। बेशक सिफ्त यह कि जेल मुझे न मिले। अब सवाल है कि दूसरे की जेब से, या मिहनत से, मेरी जेब में पैसा आता कैसे है? इसके कई तरीक़े हैं।

पहला गुण लोभ कहा जा सकता है। इसलिए अपनी चीज के लिए दूसरों में लोभ पैदा करना कमाई बढ़ाने का पहला असूल है। विज्ञापन और बिक्री की कला यही है। लोभ हुआ कि काम जागा। तब उस

जेब से पैसा निकल कर आपकी जेब में आने से रुकेगा नहीं।

दूसरा है ग़रज़। अकाल है और लोग भूखे हैं। सबको अन्न चाहिए। अब जिसके पास अन्न है, उसने दाम चढ़ा दिये। इस तरह खिंच कर पैसा आ गया।

तीसरा है डर और अविश्वास। आगे का क्या ठिकाना, जाने कब मौत आ टूटे। तब बाल बच्चों का क्या होगा? आग है, रोग है, चोर-डाकू हैं। इससे लाइये हमारे पास बचा-बचा कर जमा करते जाइये। हम उपर से ब्याज और जाने कितना और देंगे। यह भी पद्धति है जिसमें उपकार और कमाई दोनों साथ होते हैं।

या वह है जिसका नाम इंडस्ट्री (भीमोद्योग) है। हज़ारों मेहनती और भीमाकार यंत्र। मेहनती मेहनत करते हैं, यंत्र चलता है,और कमाई मोटी होती है। इसका रहस्य उद्योग की भीमता में है। यानी हजारों का श्रम सुँत कर एक केन्द्र में पड़ता है। एक की एक-एक बूंद बचे तो हजारों हो जाती हैं। और बूंद-बूंद से घड़ा भरता है तो हज़ार-हज़ार बूंदों क्या नहीं होता होगा।

या ज़ोर-जबरदस्ती है, लेकिन उसके पीछे कोई क़ानूनी बल चाहिए। जैसे ज़मींदारी, अफसरी इत्यादि।

एक तरीक़ा जो बारीक है, उसका नाम सट्टा है। वह खेल सम्भावनाओं पर चलता है। उसमें भी तृष्णा उकसा कर जेबों का पैसा निकाला जाता है। और वह गिनी चुनी जेबों में बह आता है।

एक आम तरीक़ा है, जिसको नौकरी कहते हैं। इसमें नौकर पैसा खींचता नहीं, पैसा पाता है। यानी उसके इस्तेमाल से पीठ पीछे बैठा हुआ दूसरा कोई आदमी, जो पैसा खींच रहा होता है, वह नौकर को ज़िन्दा और काम लायक़ रखने के लिए उसे खाने-पीने को कुछ देता रहता है।

इनके बाद करुणा के ज़ोर से भी किसी जेब से पैसा निकलवाया जा सकता है। दान और भिक्षा में अधिकतर यही वृत्ति रहती है।

रुपया फिर प्रीति के नाते भी हस्तान्तरित होता है। जैसे मित्र को

सहायता, परिवार का पालन आदि । वहां रुपये के लेन-देन में किसी एवज का भाव नहीं रहता ।

इन सब पद्धतियों में रुपये का आना-जाना जहां प्रेम के कारण होता है, उसको मैं सब से उचित समझता हूं । उसमें न देने वाले को देने का, न लेने वाले को ही अपने लेने का पता रहता है । मानो अपने सम्बन्धों के बीच पैसे की वहां किसी को सुध ही नहीं है । पैसे का यह आदान-प्रदान बन्धन नहीं पैदा करता, दोनों ओर आनन्द की ही सृष्टि करता और उनके बीच घनिष्ठता लाता है । पर, इस कोटि के आदान-प्रदान में कमाई शब्द काम में नहीं आ सकता । पिता ने पुत्र को सौ रुपये दिये तो इनमें पिता को सौ का घाटा हुआ और पुत्र को सौ का लाभ हुआ, यह नहीं कहा जा सकता । दूसरे की जेब से निकल कर अपनी जेब में आना कमाई है, पर वहां दो अलग-अलग जेबें ही नहीं हैं ।

सच पूछिए तो मैं वही स्थिति चाहता हूँ, जहां कमाई खत्म हो चुकी है । जहा जीवन की आवश्यकताएं ही पूरी होती हैं । न आने वाले पैसे के प्रति लोभ है, न उसके आने में चतुराई का प्रयोग या अहसान का अनुभव है ।

उससे हटकर कमाई की जो और कोटियां है, उनमें करुणा की प्रेरणा से जहां पैसा आता जाता है, वह श्रेष्ठतर मालूम होता है । वह है दान, भिक्षा । करुणा प्रेम से भिन्न है । करुणा में बंधन है और आत्मा पर दबाव है । उसमें दयावान और दया-पात्र में कक्षा-भेद हो जाता है । यानी उससे दो व्यक्तियों के बीच समत्व-सम्बन्ध का भङ्ग होता है । इससे करुणा-प्रेरित दान अन्त में सामाजिक विषमता और जड़ता उत्पन्न करने का कारण होता है । उससे दोनों ओर आत्मा को प्रसार और विस्तार नहीं प्राप्त होता, बल्कि कुंठा और सकुंचन होता है । मानो भिक्षा देनें वाला भी भिखारी के सामने अपने को किंचित् लज्जित अनुभव करता है । अर्थात् पैसे का इस प्रकार आदान प्रदान भी इष्ट और उत्कृष्ट तो नहीं है । अर्थात् यह कोटि पहली से उतरती हुई है, पर तीसरी

कोटि से अच्छी भी हो सकती है।

तीसरी है नौकरी और मजदूरी की कमाई की कोटि। बिलकुल हो सकता है, और शायद है, कि नौकर जिसकी नौकरी और मजदूर जिसकी मज़दूरी करता है, उसके प्रति अन्दर से वह एक दम अश्रद्धा के भाव रखता हो। तब जो उनके बीच श्रम और वेतन का आदान-प्रदान है; वह दोनों ओर हीनता और दूरी व द्वेष पैदा करने का कारण होता है।

चौथी अथवा अन्य कोटियां जहां लोभ, भय, अविश्वास उकसा कर या केन्द्रीकरण द्वारा लाभ किया जाता है, सबसे प्रचलित और सबसे वैध है। पर मुझे वह निकृष्ट मालूम होती है।

पांचवीं है लाचारी से लाभ। यह निन्द्य है और क़ानूनन उस पर रोक-थाम भी की जाती है।

बिना मिहनत अमुक के पुत्र और पौत्र होने के बल पर जो बड़ी-बड़ी 'कमाइयों' की सुविधा मिल जाती है—उसका भी औचित्य विशेष समझ में नहीं आता। ज़रूरी नहीं है कि एक प्रतिभाशाली पिता के पुत्र को अपनी पैत्रिक प्रतिष्ठा से हीन रखा जाय। पर स्वयं कर्म-हीन होकर वह अपने पिता की प्रतिभा के फलों को बैठा-बैठा खाया करे, यह उचित नहीं मालूम होता।

इन सब से परिणाम निकलता है कि उत्कृष्ट स्थिति वह है, जहां परस्पर में लेन-देन की भावना ही नहीं है, एक-दूसरे के हित के काम आने की भावना है। इन सम्बन्धों पर आश्रित परस्पर का व्यवहार ही सच्चा व्यवहार है। अपने को और समाज को हमें उसीतक उठाने का प्रयत्न करना होगा।

पर, उससे उतर कर आदमी आदमी के बीच करुणापूर्ण व्यवहार मुझे पसन्द है। अर्थात् कमाई की रोटी नहीं, दान और भीख की रोटी मुझे पसन्द है।

इस बात पर तनिक रुक कर मुझे अपने को साफ़ करना चाहिये मैंने पुस्तक लिखी और प्रकाशक से रुपये पाये। अब दो बात है;

या तो मैं उसे अपनी कमाई कहूं ; या फिर मैं उसे प्रकाशक की कृपा कहूं। मैं दूसरी बात पर क़ायम हूं। कमाई मायावी शब्द है। उस शब्द के सहारे माया जुड़ती है और भीतर की सचाई नहीं जागती। सचाई है प्रेम। लेकिन कमाई शब्द मुझमें ऐसा भाव भरता है कि प्रकाशक को प्रेम देने में मैं असमर्थ हो जाता हूं। मानो कि मैंने किताब लिखी, तुमने पैसा दिया। बस अब हम दोनों चुकता हैं। मानो कि एक दूसरे को समझने की आवश्यकता और एक दूसरे के लिए झुकने और काम आने की भावना से ही हम ऐसे चुकता हो जाते हैं। यानी हमारा आदान-प्रदान एक दूसरे को दो किनारों पर डाल देता है और वह रुपया ही आकर बीच में खाई बन जाता है। नहीं, मैं उस रुपये को अपनी कमाई नहीं, दूसरे की कृपा मानूंगा। आप कहेंगे कि तुम हो भोले। प्रकाशक बाज़ार में बैठता है और किसी को एक देता है तब, जब कि उसके दो वसूलता है। तुम्हारी किताब छाप कर तुम्हें जितने दिये हैं, उससे चौगुने दाम अपने खरे न कर ले तो प्रकाशक कैसा ? तुम कृपा कहते हो, पर वह ठगी है। चार में तुम्हें एक देकर तीन अपनी जेब में डाले हैं। तुम्हारे आंखें हों तो तुम्हें कभी सन्तुष्ट न होना चाहिये। अभी एक मिलता है, तो ज़रूर ले लो; लेकिन बाक़ी तीनों पर अपनी निगाह जमाये रखनी चाहिये। आपकी यह बात सही हो सकती है। पर, फिर भी मैं 'उनकी कृपा' की जगह 'अपने हक़' के शब्द को इस्तेमाल नहीं करना चाहता। क्योंकि मैं नहीं चाहता कि दो व्यक्ति अपनी सीमाओं पर कांटे के तार खड़े करके मिलें। ऐसे वे कभी एक दूसरे में घुल नहीं सकेंगे और न उनमें ऐक्य उत्पन्न होगा। वैसे आपस में वे सदा कतराते रहेंगे और फल उसका बैर होगा।

इस तरह मैं अपनी कमाई का खाता हूं--इस झूठे गर्व से मैं मुक्त हो जाना चाहता हूं। अगर ईश्वर है, तो मेरा तेरा झूठ है। अगर ईश्वर की यह दुनिया है, तो उसकी अनुकम्पा पर ही हम जीते हैं। अगर ईश्वर

की यह दुनिया है, तो उसकी अनुकम्पा पर ही हम जीते हैं। अगर ईश्वर सर्वव्यापी है, तो उसकी अनुकम्पा भी सब में है और उसीके बल पर हमें जीना चाहिए।

इस दृष्टि से जिसको बाकायदा कमाई कहा जाता है, उसको बढ़िया नहीं मानना होगा। उससे अहंकार का चक्र कसता और फैलता है। उससे मैं तू और मेरा तेरा बढ़ता है।

मैं जानता हूं कि हमारे समाज में एक चीज है, इज्जत। उसको धुरी मानकर हमारा सभ्य-जीवन चल रहा है। अरे, हरेक अपनी इज्जत रखता है। कमाई नाम का शब्द उसकी इज्जत को मजबूत और ऊंची बनाता है। वह कमाता है, इसलिए उसकी नाक किसी से क्यों नीची हो? नवाब घर का नवाब हो, अपने घर में हम भी नवाब हैं। इस तरह कमाई पर टिक कर हम अपना आत्म-गर्व सुरक्षित करते हैं। इस तरह हम इस लायक होते हैं कि किसी को अपने से छोटा समझें।

इस में तथ्य भी हो। पर जो अतथ्य है, वही मैं दिखाना चाहता हूं। कमाई के बल पर हम सच्चे भाव में विनम्र बनने से बचते हैं। अपने इर्द-गिर्द इज़्ज़त का घेरा डालते हैं, जो हमारे विकास को रोकता है। हम उससे अहम् को केन्द्रित करते हैं और फलतः सेवा-कर्म के लिए निकम्मे होते हैं।

संक्षेप में, अपने लिए, मैं कमाई के धन को नहीं, कृपा के अन्न को अच्छा समझता हूं। कमाई में आगे की चिन्ता है। आगे का अन्त नही, इससे चिन्ता का भी अन्त नहीं। दस हजार है तो वह थोड़े; पचास हजार है, तो पांच बेटों में बंटकर भला वह क्या रह जायँगे? इस तरह भविष्य के अविश्वास के आधार पर चिन्ता का पहाड़ का पहाड़ हम अपने ऊपर ओढ़ लेते हैं। तब चिड़िया जैसे सबेरा निकलते ही चहचहाती है, वैसे हम नहीं चहचहा पाते। कमर झुक जाती है, क्योंकि अनन्त चिन्ता का बोझ उस पर हम धर लेते हैं। मस्तक तब आकाश में नहीं

उठ सकता। दूसरे का दुख देखने की फुरसत नहीं रहती, क्योंकि हम अपने और अपनों से दब जाते हैं।

नहीं-नहीं, विश्वास का रास्ता आस्तिक का रास्ता है। कल की शंका करके आज को मैं नष्ट कैसे करूं? और यह सच है कि आज यदि नष्ट नहीं होगा, तो कल और पुष्ट ही होने वाला है। पर कल के दबाव में आज को हाथ से जाने देते हैं, तो फिर कल भी कोरा ही रह जाने वाला है।

: ३ :

राष्ट्रीयता

कई वर्ष की बात है कि एक पुस्तक देखी थी, 'राष्ट्र धर्म'। प्रचार के साथ विचार के लिए भी वह लिखी गयी मालूम होती थी। कुल मिला कर उसमें राष्ट्र को अपने इष्ट देव की तरह मानने की सीख थी और सब धर्मों का धर्म बताया था—राष्ट्रीयता।

उसके बाद एक विवाह देखा। वहां वेदी की जगह भारत का नकशा बना था। वेद मंत्रों की जगह राष्ट्र-गीत ने ली थी। अग्नि देवता के बजाय भारत माता की साक्षी पवित्र समझी गयी थी। और दूसरे कुछ इस तरह के सुधार थे। उस विवाह को बताया गया था—राष्ट्रीय।

और अभी थोड़े दिन पहिले बालिकाओं की एक शिक्षण-संस्था देखी। वह संस्था सिर्फ गिनती बढ़ाने वाली नहीं थी। उसका ध्येय था और वहां जिन्दगी नजर आती थी। उसकी ओर से उनकी शिक्षा के आदर्श की व्याख्या में एक पुस्तिका भी निकली है। उसमें देखा कि उनके दो बुनियादी सिद्धान्त हैं, उनमें एक है—राष्ट्रीयता।

यों तो अपनी कांग्रेस राष्ट्रीय है। नाम ही है 'इन्डियन नेशनल कांग्रेस'। पर कांग्रेस के साथ के राष्ट्रीय शब्द से मन में कुछ सवाल नहीं उठता। मानों वह शब्द सही है और अपनी जगह है। पर ऊपर के उदाहरणों में काम में आने वाली राष्ट्रीयता पर मन मे सवाल उठता है। जो राष्ट्र और राष्ट्रीयता पूजी जाती है; विवाह में मध्यस्थ होती है,

कन्या-शिक्षा में बुनियादी सिद्धान्त का काम देती है, उस राष्ट्रीयता पर मन कुछ ठहरता है।

फिर सामने विलायतों में लड़ाई चली है। लड़ने लायक जोश वहां जिस बिना पर पैदा होता और किया जाता है, उसको भी हम शायद राष्ट्रीयता कह सकते हैं। जर्मन लोग जर्मनी के नाम पर और इंगलैंड के लोग इंगलिस्तान के नाम पर, अपनी रक्षी के डर में या अपनी बढ़ती की आकांक्षा में, एक दूसरे की जान के प्यासे दीख रहे हैं। उनका ज़ाहिरा धर्म क्या है?—राष्ट्रीयता।

इससे राष्ट्रीयता शब्द पर कुछ अटकना बेजा नहीं है। चाहिए कि देखें उस शब्द की उपादेयता पर कुछ हदें हैं या नहीं? हदें है, तो वह क्या हैं? या कि वह शब्द ऐसा आखिरी है कि उसके आगे ख़याल को जाना ही नहीं चाहिए?

हाल की ही तो बात है कि अपने हिन्दुस्तान में कांग्रेस और गाँधी दो अलग रास्ते जाते दिखलाई दिये। अब वैसा नहीं है। सन् '१९ से शायद कभी वह बात नहीं थी। पर कुछ देर के लिए वह अन्तर राह चलते के लिए भी साफ़ हो गया। हिन्दुस्तान के मामूली आदमी के लिए तो यह ऐसी अनहोनी हुई कि वह उस पर भौंचक रह गया और ठीक तरह कुछ समझ नहीं सका। लेकिन सूझते के लिए बात साफ़ हो गयी। कारण, कांग्रेस सिर से पांव तक राष्ट्रीय थी। गाँधी पर वह पाबन्दी नहीं थी।

गांधी इधर बीस वर्ष से अधिक से हिन्दुस्तान की समूची राष्ट्रनीति को गति और दिशा दे रहे हैं। अर्थात् राष्ट्र उनके कारण कुछ सच्चे हा अर्थों में राष्ट्रीय हुआ है। फिर भी गांधी हर अवसर पर कह देते हैं कि राष्ट्रीय कहां, मैं तो धार्मिक हूं। धर्म की निगाह से सब बातों को देखता और उन पर फ़ैसला करता हूं।

इसलिए ख़ुद राष्ट्र को और उसकी राजनीति को चलाने, और अपने निजी और समाजी जीवन को सुधारने की दृष्टि से हमें मुड़कर

राष्ट्रीयता का लेखा ले लेने की जरूरत है। देखना चाहिये कि कितनी उससे हमें मदद मिलती है और कहां पर रोक थाम चाहिये; हमको कहां पहुंचना है और राष्ट्रीयता बेलगाम हमको कहां ले जा सकती है; यानी आदमी राष्ट्रीयता को ले तो किन मर्यादाओं के साथ, ये सारी बातें सोचने की हैं।

कहा जाता है कि मानवता एक है। आदि दिन से यह कहा जाता है। विरोध इसका नहीं सुना गया। सब मनुष्य भाई-भाई हैं और मानव जाति एक परिवार है—सब जातियों के साहित्य और धर्म में यह पुकार मिल जायगी।

इसलिए वह बात झूठ तो नहीं है। पर सचमुच क्या हमारे काम देखते हुए भी वह सच है ?

धरती पर निगाह डालते हैं, तो वह कटी-बंटी है। राष्ट्र बंटे हैं; प्रान्त बंटे हैं। फिर अनेक जातियां, अनेक वर्ण, अनेक धर्म-सम्प्रदाय और गिरोह हैं। उनमें आपस में अनबन है और खून-खराबी होती है। अर्थात् धरती के व्यवहार में मनुष्य जाति एक नहीं है।

फिर भी मानवता तो एक है। और स्पष्ट है कि वह बाहर से नहीं तो भीतर में, यानी ईश्वर (आदर्श) में एक है।

और धरती ही सच नहीं, बल्कि आसमान भी सच है। शायद आसमान ज़्यादा सच है। क्योंकि आदमी का बिगाड़ वहां नहीं है और ईश्वर की अछूती क़ुदरत वहां है।

इसलिए धरती पर की स्वार्थ की अनेकता से परमार्थ की एकता ज्यादा सच है। क्योंकि वही सच्चा सच है।

लेकिन एक दम उस सच्ची सच्चाई से अपना काम कहां चलता है ? वह काम धरती का जो है। तो भी यह निश्चित है और निश्चित रहे कि मानवता का कुछ लक्ष्य है तो वह उस पारमार्थिक एकता को पाना है। उससे हटकर कोई गति प्रगति नहीं, और कोई कर्म इष्ट नहीं है।

आदर्श व्यवहार से भिन्न है, इसीलिए व्यवहार के बारे में उलझन

श्रौर पेंच हो, तब श्रादर्श की याद कर लेना इष्ट है, क्योंकि माप वही है। व्यवहार को परखने की कसौटी खुद व्यवहार ही कैसे हो सकता है ? श्रौर श्रादर्श से यदि हमें कुछ काम है तो वह यही काम है कि व्यवहार में दिशा-भूल होने पर श्रादर्श हमें राह बताये।

मानव जाति का इतिहास वहां से चलता है, जहां हर एक श्रकेला श्रौर हर एक श्रपने में कुल भी था। समाज नहीं था, व्यक्ति ही था। श्रपनी खुदी उसके लिए सब थी, हर दूसरा उसे दुश्मन था। श्रापस में नातों-रिश्तों की कल्पना न थी श्रौर भोग श्रौर भूख का ही उनमें सम्बन्ध था। प्यार जगा, मिल लिये। भूख लगी, खा डाला। श्रर्थात् व्यक्ति श्रपने में इकाई था, श्रौर हर दूसरे से श्रलग था। परिवार भी न बना था, बनने को था।

वहां से हम चले। परिवार बना। जनपद बने, नगर बना। श्रापसी-पन पैदा हुश्रा। सामाजिकता उपजी। जातियां बन चलीं। राज उदय में श्राये। इस तरह श्रादमी ने दूर-पास नाता जोड़ना शुरू किया। उसका श्रपनापन फैला। उसी तरह वर्तमान को लांघ कर श्रतीत श्रौर भविष्य से भी उसने श्रपना रिश्ता देखा। काल में भी उसने अपने को फैलाया श्रौर संस्कृति ने जड़ पकड़ी। चलते-चलते मनुष्य-जाति श्राज इस भूमिका पर है कि उसका व्यापक व्यवहार राष्ट्र को इकाई मानकर सम्भव बनता है। श्राज की जीवित राजनीति का घटक (unit) राष्ट्र-राज्य (Nation state) है।

मैं इसको विकास मानता हूं, ह्रास नहीं। श्रादिम मनुष्य का काया-बल श्राज के मनुष्य में नहीं है, वह डील-डौल नहीं है, वह चपलता नहीं है। यह उचित ही है। शेर श्रकेला है श्रौर जंगल में रहता है। इससे उस ढंग की सिफ़त भी उसमें हैं। पर श्रादमी श्रगर शेर नहीं है, तो इस पर श्रफ़सोस करने की जगह नहीं है।

श्राज दिन राष्ट्र की भाषा में हम सोचते हैं। जनता का मन राष्ट्र का श्रपना कहकर अपनाने में श्राज समर्थ है। यह छोटी बात नहीं है।

जैन तीर्थङ्कर महावीर ने अहिंसा धर्म पर ज़ोर दिया। पर वह धर्म व्यक्ति के दायरे में देखा गया और पाला गया। आज अहिंसा को राष्ट्र की परिभाषा में सोचा जाता है। सोचा नहीं, अमल में लाने का आग्रह रखा जाता है। यानी राष्ट्र और राष्ट्रीयता की धारणा मनुष्य जाति के विकास का लक्षण है।

पर आदर्श पा कब लिया गया और विकास कब ख़तम हुआ है ? इसलिए राष्ट्र हमारे राजनीति-व्यवहार की धरती की इकाई बनने से अधिक उसके उद्देश्य की परिधि भी बनता है, तो वह मनुष्य जाति के विकास में ख़तरा है। हम आज राष्ट्रीयता पर हों, पर वहाँ रुक नहीं सकते हैं। आगे भी चलना है। यदि राष्ट्रीयता आगे ले जाने में उपयोगी नहीं होती है, तो वह बाधा है। ऐसी अवस्था में वह जकड़ है, जिसको तोड़े बिना गति सम्भव नहीं। वैसी राष्ट्रीयता प्रतिक्रिया का अस्त्र है।

मनष्यता बढ़ती आयी है और बढ़ती चलेगी। सर्वैक्य तक उसे उठते ही चलना है। इस यात्रा में हर क़दम की सार्थकता ही यह है कि वह अगले क़दम की प्रेरणा दे। जिस ज़मीन पर अब हैं, अगर चलना है, तो वह ज़मीन छूटेगी। एक क़दम तभी सच है जब कि आगे दूसरा भी हो। जिसके आगे दूसरा नहीं, वह कदम मौत का हो जाता है। इस तरह कोई क़दम और कोई मंज़िल अपने आप में सच नहीं। राष्ट्रीयता भी अपने आप में सच मान ली जायगी, तो वह झूठ पड़ जायगी। क्योंकि तब वह मानवता को बढ़ाने में नहीं, रोकने में काम आने लगेगी। तब वह अगति का साधन होगी। और मानवता को तो सब के ऐक्य तक उठे बिना रुक रहना नहीं है, इससे उसकी राह में अटक बनने वाली राष्ट्रीयता को गिरना होगा।

इतिहास यही है। वीर आये, उन्होंने जीवन की विजय साधी। तब वह काल के मुंह पर खेले। पर काम हुआ कि वह काल के गाल में सो रहे। इतिहास उनको समा कर आगे बढ़ गया। राष्ट्रीयता भी हमारे

विकास की विजय ह। पर पराजय बने, इससे पहिले ही उसे मानवता में समा जाना चाहिए। अन्यथा मानवता का विरोध सिर लेकर राष्ट्रीयता कलंकिनी होगी।

यानी राष्ट्रीयता अपनी जगह सामयिक रूप से सही है। पर जो सामयिक नहीं, ऐसे विचार और भावना पर भी वह यदि आरोप की भाँति लाई जाती है, तब वह सही नहीं रह जाती, क्योंकि अपने क्षेत्र और काल की मर्यादा का उल्लंघन करती है। अहंकार शुभ नहीं और उग्र राष्ट्रीयता उसी का लक्षण है।

पर अहंकार हवा में थोड़े उड़ जाता है। साधना से उसे धीमे-धीमे हलका और व्यापक बनाना होता है। यही उससे छुटकारे की पद्धति है। राष्ट्र को लेकर हम अपने स्वार्थ और अहंकार के विसर्जन की प्रेरणा पायें, तब तक वह इष्ट है। पर उसका मतलब व्यक्तिगत अहंकार की भांति हममें राष्ट्रीय अहंकार का भर जाना हो, तो उसको इष्ट नहीं कहा जा सकता। और जब-जब हम राष्ट्रीयता के उपयोग को सामयिक से अधिक और अलग देखते हैं, तो कुछ उसी प्रकार के अहंभाव के विकार में फंसे हो सकते हैं। यों तो कोई वस्तु सिरजनहार की याद बनकर पूज्य है, पर उपासक की उपासना उसमें अटक रहे, तो वह पूजा की नहीं विडम्बना की वस्तु हो जायगी। इसी तरह राष्ट्रीयता यदि सबकी एकता का नमूना बनकर उसी आदर्श की भावना जगाने में मदद देती है, तो ठीक; पर अगर कहीं वह दूसरे राष्ट्र या राष्ट्रवासियों की तरफ़ बैर या विरोध को शह देती है, तो कहना होगा कि वह अपने हद से बाहर पांव रखती है और यह उसकी उद्दण्डता है।

हमने देखा कि ऐक्य-विस्तार में हम बढ़ते ही आये हैं। बढ़कर राष्ट्रीयता तक आ पहुंचे हैं। वहाँ से अन्तर्राष्ट्रीयता की ओर भी क़दम रखा है। जब तक हमारा हित कुल दुनियां के साथ मिला हुआ हमें नहीं लग आता, तब तक हमारी मुक्ति कहां ? और तब तक बढ़ते ही चलना है।

लेकिन बढ़ना सपनों से नहीं, क़दमों से है। सपने के पर लगा कर तो आँख मूद छन में हम आसमान छूलेंगे। लेकिन धरती से आसमान की ओर उड़ने के लिए हवाई जहाज़ बनाने में मानवता को ईसवी की बीसवीं सदी तक धीरज रखना और मिहनत करनी पड़ी।

इसी भांति कविता पर बैठकर राष्ट्रीयता से आगे बढ़ना बस न होगा। कविता में कल्पना तो उड़ती, पर पैर थिर रहते हैं। तभी कवि को समाज अपनी बागडोर नहीं, प्रशंसा ही देता है। पर कवि मनुष्यता के आदर्श की चौकसी रखता है। रात अंधेरी है और दुनिया नींद में या नशे में है, तब भी कवि मनुष्यता की निधि, यानी प्रेम के आदर्श, पर पहरा दिये सजग बैठा है।

कवि का काम ज़रूरी है। पर उससे उतरे काम भी हैं, जो कम ज़रूरी नहीं हैं। कवि से कुछ उतरा एक व्यक्ति हुआ—मार्क्स। जर्मनी और फ्रांस की अलहदगी और उनका परस्पर विरोध उसके मन में नहीं घर कर सका। राष्ट्रीयता को वह नहीं समझ पाया, जो एक कल्पित रेखा के इधर के आदमी को अपना और उधर के आदमी को पराया बनाती है। इस विधान की कृत्रिमता पर वह आंख नहीं मूंद सका। उसे आस-पास के लोगों में फांक नहीं नज़र आयी, कोई बुनियादी फ़र्क़ नहीं समझ आया। इससे राष्ट्र के नाम पर की अलहदगी से वह अपने विचार में समझौता नहीं कर सका।

पर मार्क्स उतना लेखक या कवि न था। यानी अन्तिम अभेद की निष्ठा उसे प्राप्त न थी। इससे वह सत्य का नहीं, समाज का दार्शनिक बना। उस समाज में उसे विषमता दीखी। उसका मस्तिष्क विषमता के साथ जूझने में लग गया। वह ऊपर की सब उलझनों के भीतर पहुँच कर विग्रह की असल गांठको पकड़ना चाहता था। यानी उस मौलिक विरोध को जो दूसरे सब विरोधों को थामता और उपजाता है। कोशिश के बाद उसे एक चीज़ नज़र आयी—धन, यानी पूंजी। उसने वहीं अपना सब विश्लेषण गाड़ दिया और तर्क की राह चलते-चलते उसने समाज के

सारे विरोधों को एक अन्तिम और मूल विरोध के रूप में जा ढूंढ़ा। वह था—पूंजी और श्रम का विरोध।

इस अपनी खोज पर पहुंच कर उसने पाया कि मनुष्यता खंडित है। भूगोल में (Vertically) नहीं, बल्कि श्रेणियों में (Horizontally) वह बँटी हुई है। असल विरोध इन श्रेणियों का आपसी विरोध है। उस विरोध को नष्ट करना होगा और उसके लिए जो ऊपर की श्रेणी अपने स्वार्थ-साधन में उस विरोध को क़ायम रखती है, उसी को नष्ट कर देना होगा। पर कैसे ? वह ऐसे कि पहले उस विरोध को ही तीव्र करना होगा। वर्ग-विग्रह की भावना को चेताना होगा। उस चैतन्य से नीचे की श्रेणी के, जहां सच्ची जनता और मानवता का निवास है, बल मिलेगा। इतना बल मिलेगा कि ऊपर से उसको दबाने वाली तह उसे असह्य हो जायगी। तब वह तह बिखर रहेगी, नष्ट-भ्रष्ट कर दी जायगी, और इस तरह समाज श्रेणियों से छुटकारा पाकर परिवार के मानिन्द एक हो जायगा। तब व्यक्ति समाज का और समाज के लिए होगा और परस्पर का हित-विरोध और स्वार्थ-संघर्ष नहीं रहेगा। मार्क्स की इस तर्क-पद्धति ने समूचे विकास को विग्रह मूलक परिभाषा में देखा और दिखाया।

राष्ट्रीयता को ज्यों का त्यों न अपनाने वाले लोग तो यों सब देश और कालों में हुए, पर वे धार्मिक ज़न थे, या साहित्यिक। राजकीय व्यवहार के धरातल पर लोग उसका स्वीकार करके ही चलते थे। राजनीति-विचारक शासन-तंत्रों के दार्शनिक विचार में चाहे कुछ भी कहें, राष्ट्र के दायरे और विभाजन को जाने अनजाने वे मानते ही थे। मार्क्स ने उसी धरातल पर रह कर पहले-पहल राष्ट्र-विधान के अस्वीकार में अपनी आवाज़ ऊँची की।

मार्क्स से पहिले भी कुछ सद् विचारक राष्ट्र सत्ता (सरकार) से बिना संघर्ष में आये समाजवादी आदर्श के गठन और प्रयोग में लगे थे; पर उस आदर्श को अमली शक्ल देने की जितना उनकी कोशिश थी,

उतनी उसको शास्त्रीय, वैज्ञानिक और व्यापक रूप देने की नहीं थी। वे लोग सामाजिकता को यथा सम्भव अपने व्यवहार में उतारने की चेष्टा में रहे। उसे एक वाद, एक जीवन-शास्त्र का रूप देने में नहीं लगे। मार्क्स ने यही किया। स्वयं मार्क्स सामाजिक नहीं बने, कर्म-कुशल और मिठबोल नहीं बने, संस्था नहीं बने; नेता नहीं बने। एकाकी,एकाग्र और स्वयं असामाजिक रहकर भी, समाजवादी शास्त्र और स्वप्न का ढांचा पूरा करने में वह लगे रहे।

वह समय मशीन का यानी सामूहिक उद्योग का था। अपने अलग-अलग श्रम से काम चलने की संभवता लोगों के मनों से नष्ट हो चुकी थी। कलों के बल पर भीमोद्योग चल रहे थे और आबादी नगरों में केन्द्रित होती जाती थी। उस घटनात्मक यथार्थ के आगे व्यक्तिगत स्वावलम्बन में विश्वास रखने वाला आदर्श टिक नहीं सकता था। यानी केन्द्रित उद्योगों के कारण समाजवाद नहीं, तो एक प्रकार के समूहवाद की जरूरत तो स्थिति में भरी ही थी। मार्क्स ने उसे सान दे दी। जैसे भाव को भाषा दे दी। मार्क्स के जबर्दस्त और तीखे तार्किक प्रतिपादन ने उस विषय के चारों ओर विवाद और विवेचन का वातावरण पैदा कर दिया। इस विमर्ष से वस्तु को धार मिली।

यह समाजवाद राष्ट्रीयता को पहली सशक्त चुनौती था। पर राष्ट्रीयता का भेद यों कृत्रिम हो; लेकिन उसके भीतर राष्ट्र की एकता का तथ्य भी समाया है। वह थोड़े बहुत अंश में एकता के प्राकृतिक विकास के अनुरूप है। मानो भौगोलिक विभाजन प्रकृति की ओर से ही क्षम्य है। जैसे वह परिस्थिति गत लाचारी है; एक मंजिल, एक रियाअत है।

इसकी तुलना में मार्क्स का श्रेणीगत विभाजन उतना अनिवार्य और साफ़ नहीं है। उसको मानों हमारे समाज के अन्दर फैली हुई वर्ग-दुर्भावना से ही बल मिलता है।

पर वह जो हो, मार्क्स के इस वर्ग-विभाजन की नई झांकी में से लोगों ने हठात् मानवता की एकता के आदर्श को भी ताज़ा और समीप

बनाकर देखा। रूस देश की हालत उस विचार-धारा के प्रचार के बिलकुल अनुरूप पड़ी। वहां जनता पर शासन का जूआ बहुत भारी था। मनोभावना की जमीन वहां तैयार थी। उस देश में मार्क्स के समाजवाद को बल पकड़ने और अपने को आज़माने का अवसर मिला।

जहां तक वर्ग-चेतना की धार को तेज़ करके शक्ति उपजाने और सत्ता के तख़्त को पलट देने और उस पर हावी होजाने का सम्बन्ध था, मार्क्स का नक़शा ठीक उतरता चला गया। वहां उसके बे ठीक होने का प्रश्न भी नहीं था। क्योंकि मानवता का एकता का सपना सनातन था और त्रस्त जनता की दबी भावना उभरने को तैयार ही थी। समाजवाद ने, पुराने शासकों की जगह नये आने वाले शासकों की पार्टी में,सङ्गठित होने के लिए नाम का और आंदोलन-प्रचार का सुभीता दे दिया।

परिणाम हुआ कि क्रान्ति हो गई। यानी शासक बदल गये। पर जिस राष्ट्रीयता नाम के सांचे में मनुष्य-जाति की राजनीति और राजकाज ढलकर चलाए जाते थे और जिस सांचे से उद्धार पाने की आशा समाजवादके रोमांटिक साहित्य से लोगों में पनप चली थी,उस सांचेका क्या हुआ?

रूस की क्रान्ति रूस के इतिहास के लिए एक बड़ी घटना है। उस दायरे में वह एक बड़ा सबक़ है और गहरा इशारा है; पर उस दायरे के बाहर मनुष्य जाति के इतिहास में क्या वह किसी नये मानसिक मूल्य (Category of consciousness) का दान है? मेरे विचार म नहीं। क्रान्ति से समाजवाद बीते इतिहास और शास्त्रीय दिलचस्पी का का विषय रह गया, जीवित और वर्त्तमान राजनीति से वह निःशेष होगया।

यूरोप के और देशों के बराबर रूस को लाने का काम क्रान्ति ने किया, यूरोप को बदलने या बढ़ाने का नहीं। क्या राष्ट्रीयता नाम के जिस सांचे (Category of Political consciousness) के द्वारा राजनीति का व्यवहार चलता था उसमें कुछ अन्तर आया? सुधार हुआ? विस्तार हुआ? शायद नहीं।

मार्क्स के समाजवाद पर राष्ट्रीयता आयद नहीं हो सकती, लेनिन का समाजवाद सीमित रूसी राष्ट्रीयता से समझौता निबाह सका; और स्टालिन का समाजवाद रूस की वैदेशिक नीतिमें समाजवाद है,यह उसके दुश्मन भी नहीं कह सकेंगे। हां, ट्राटस्की के समाजवाद ने भौगोलिक परिधियों को नहीं स्वीकार करना चाहा। परिणाम हुआ कि जीवित राजनीति में ट्राटस्की नगण्य रहा, जैसे कि मार्क्स नगण्य था। लेनिन गणनीय रहा, क्योंकि राष्ट्रीयता को उसने निभाव दिया। और स्टालिन एक समूचे देश की शक्ति के साथ सशक्त है, क्योंकि भाषा चाहे उसे समाजवाद की रखनी पड़ी हो (और इतने प्रचार के बाद दूसरी भाषा सहसा रूस को लग भी नहीं सकती थी), पर भाव में वह यूरोप के और देशों के अधिनायकों की तरह समाजवाद के आदर्श के दबाव से सर्वथा मुक्त है।

समाजवाद रूस में भी यदि व्यावहारिक राजनीति के काम का है, तो राष्ट्रीय दायरे में और राष्ट्रीय विशेषण के साथ ही काम का है। अर्थात् सोशलिज़्म जब नेशनल है, तभी अन्तर्राष्ट्रीय धरातल पर उसकी गिनती है। अन्यथा तो वह निर्जो वस्तु भले रहे, मानव जाति के राजनैतिक व्यापार में चलन की वस्तु वह नहीं है।

तभी तो अत्याधुनिक राजनैतिक धर्म का नाम 'नेशनल सोशलिज़्म' है। जाने-अनजाने रूस में भी वही है और इंग्लैण्ड में भी वही है।

राष्ट्रीयता (Nationalism) का मान पुराना पड़ रहा था। उसमें से साम्राज्य बने और साम्राज्यशाही मनोवृत्ति को जन्म मिला। साफ हो चला था कि यह मनोवृत्ति मानव-मूल्यों के विकास में बाधा है। सोशलिज़्म ने आकर मानवता के मर्म के गहरे में जो स्वप्न सदा रहता आया है, यानी विश्वबन्धुत्व, उसे भड़काया। उधर यथार्थ में उसने राष्ट्रवाद के साथ समझौता कर लिया। इस तरह उसने राष्ट्रवाद को नई जान दे दी। सोशलिस्टिक बनकर मानों नेशनालिज़्म हमें ऐक्य की ओर ले जा सकता है, ऐसे भुलावे का सामान कर दिया। हिटलर

क्यों न आज मान ले कि वह मनुष्यता का विकास-साधन कर रहा है, क्योंकि वह जर्मन राष्ट्र को राष्ट्रीय चेतना के आधार पर दृढ़, बलवान और अविजेय बनाकर दिखला सका है ? यदि राष्ट्रीयता लक्षण हो तो हिटलर को विश्व की प्रगति में आज सबसे अगला कदम गिनना होगा।

पर नेशनल-सोशलिज़्म नाम के सङ्कर पदार्थ में दो अनमेल तत्वों का मेल है। इससे वह बारूद है जो फट पड़ने के लिए है। यूरोप के राष्ट्र उस बारूद को अपनी काया में भर बैठे हैं और विस्फोट समक्ष है।

इस प्रकार राष्ट्रीयता अपने आप सही मानी जाकर जब किसी शब्द के सहारे आदर्शात्मक भावावेश के मेल से तीव्र और पुष्ट की जाती है, तो इससे राष्ट्र की शक्ति बढ़ती दीखती हो सही, पर उसका खतरा भी बढ़ता है। यानी उससे मद और आतंक बढ़ता है। आतंक बढ़ने से उसमें, और आस-पास के देशों में, सेना और शस्त्रास्त्र की बढ़वारी होती है। राष्ट्र का धन बढ़ता मालूम होता है, पर उसके लिए मंडियां खोजनी पड़ती हैं। उन मंडियों की रक्षा के लिए नाकेबन्दी बैठालनी पड़ती है। इसके लिए, और हुकूमत की शाही शान रखने के लिए, धन को बढ़ाते जाने की जरूरत और हविस होती है। उसके लिए उस राष्ट्रीय सत्ता को दूर पास शोषण की नलियां जोड़नी पड़ती हैं। उन नलियों द्वारा धन, यानी उन देशवासियों का रक्त, खींचा जाता है। वही फिर मद और विलास के रूप में अपने शरीर में प्रविष्ट किया जाता है। उस विलास-रक्षा के लिए फिर जरूरी होता है कि चौखूट चौकसी पूरी हो। टैंक हों, जहाज हों और क्या न हो ! इस तरह एक राक्षसी चक्कर चल पड़ता है।

जहां तक साम्प्रदायिकता और प्रान्तीयता से हमारा उद्धार करे वहां तक राष्ट्रीयता हितकारी है। जहां वह स्वयम् एक अहंकार का रूप होती है वहां वह विष की भांति त्याज्य है। राष्ट्र ठीक, प्रान्त ठीक । ये तो भी बड़ी बातें हैं। मैं कहता हूं कि अपना कुटुम्ब, अपना निजत्व, सभी ठीक हैं। पर कुटुम्ब के अस्तित्व के लिए ज़रूरी है कि सदस्यों के स्वत्व-

भाव में परस्पर हित विरोध न हो, और घर के लिए ज़रूरी है कि उसके द्वार पर स्वागत और हृदय में अतिथि के लिए प्रेम हो। वह घर जो पड़ौस से हिलमिल कर नहीं बसता, और वह कुटुम्ब जो अपने से बाहर सहानुभूति का दान नहीं करता, सूख जाता है। वह तब नगर के लिए रोग का कारण बनता है। यही बात बड़ी संस्थाओं और समुदायों के बारे में भी है। साम्प्रदायिकता दो सम्प्रदायों की स्पर्धा और उनके तनाव पर मज़बूत होती है, इसीसे वह अच्छी नहीं है। ऐसे ही जो दो राष्ट्रों के वैमनस्य से पुष्ट होती और उसको पुष्ट करती है, वह कैसे अच्छी चीज़ समझी जा सकती है?

अर्थात् सामयिक भाव से जो भी कर्तव्य, जो भी धर्म उपादेय हो, सब पर एक परम-धर्म की मर्यादा लागू होती है। वह धर्म सामयिक नहीं, शाश्वत है। उसका अनुपात वस्तु और स्थिति के साथ भिन्न हो सकता है। पर स्वयम् में वह परम धर्म होते अनिवार्य है। उसका नाम है अहिंसा। उसका मतलब है निर्वैर और उसकी आत्मा है प्रेम।

अहिंसा से यदि राष्ट्रीयता जौ भर हटे तो वह उसी अंश में सदोष है।

सदोष तो यों मानव भी है। निर्दोष बस ईश्वर है, जो आदर्श का दूसरा नाम है। निर्दोषता की स्थिति आदर्श से बाहर और कहीं नहीं है। लेकिन सदोषता को हम मानते चलें, देखते चलें, निर्दोषता की ओर बढ़ने का यही मार्ग है।

राष्ट्रीयता उपयोगी है, इसी में है कि उसमें अनुपयोगी होने की क्षमता है। इससे उसकी मर्यादा जान लेनी चाहिये और मर्यादा के उल्लंघन से सदा उस राष्ट्रीयता को बचाना चाहिये।

राष्ट्र-सेवा की भावना यदि लोभ-वृत्तिक (Romantic) नहीं, तो वह लोक-सेवा के रूप में ही अपनी कृतार्थता खोजेगी। लोक-सेवा पड़ौसी-सेवा से आरम्भ होती है। इस प्रकार की सच्ची राष्ट्रीयता राजनैतिक नहीं होती, 'राज' को अपने से दूर करके वह केवल नैतिक होती है।

नैतिक भाव से की गयी जन-सेवा अपने व्यापक प्रभाव के कारण

संघर्ष उपजा उठे, और अनायास राष्ट्रीय अथवा राजनैतिक दीख चले, वह बात अलग है। पर अपनी ओर से वैसा विशेषण उसे देकर चलना अनावश्यक है।

अर्थात् दूसरे लोग राष्ट्रीय कहें तो कहलें, स्वयम् संज्ञा वह देकर किसी नीति अथवा वस्तु को अपनाने की तबियत सही नहीं। जो अपनाने योग्य है, वह नैतिक कारणों से। उस दृष्टि से जो इष्ट है, वही अभीष्ट हो सकता है। राजनीतिक धरातल पर उस इष्ट वस्तु की इष्टता बतलाने में सहज ही वह (राजनीतिक) भाषा भी सुलभ हो सकती है। अपनी ओर से नैतिक को छोड़कर राजनैतिक भाषा पर आना अनावश्यक है।

नीति से अलग होकर राजनीति भ्रम है और मानवता से च्युत होकर राष्ट्रीयता भी बन्धन ही है।

: ४ :

व्यवसाय का सत्य

एक रोज़ एक भेद ने मुझे पकड़ लिया। बात यों हुई। मैं एक मित्र के साथ बाज़ार गया था। मित्र ने बाज़ार में कोई डेढ़ सौ रुपये खर्च किये। सो तो हुआ, लेकिन घर आकर उन्होंने अपना हिसाब लिखा और खर्च खाते सिर्फ पांच रुपये ही लिखे गये। तब मैंने कहा, "यह क्या?" बोले, "बाकी रुपया खर्च थोड़े ही हुआ है। वह तो इन्वेस्टमेण्ट है।"

इन्वेस्टमेण्ट : यानी खर्च होकर भी वह खर्च नहीं है, कुछ और है। खर्च और इस दूसरी वस्तु के अन्तर के सम्बन्ध में कुछ तो अर्थ की झलक साधारणतः मेरे मन में रहा करती है; पर उस समय जैसे एक प्रश्न मुझे देखता हुआ सामने खड़ा हो गया। जान पड़ा कि समझना चाहिये कि खर्च तो क्या, और 'इन्वेस्टमेण्ट' क्या? क्या विशेषता होने से खर्च खर्च न रह कर 'इन्वेस्टमेण्ट' हो जाता है? उसी भेद को यहां समझ कर देखना है और उसे तनिक जीवन की परिभाषा में भी फैला कर देखेंगे।

रुपया कभी जम कर बैठने के लिए नहीं है। वह प्रवाही है। अगर वह चले नहीं तो निकम्मा है। अपने इस निरन्तर भ्रमण में वह कहीं-कहीं से चलता हुआ हमारे पास आता है। हमारे पास से कहीं और चला जायगा। जीवन प्रगतिशील है, और रुपये का गुण भी गतिशीलता है। रुपये के इस प्रवाही गुण के कारण यह तो असम्भव है कि हम उसे रोक रखें। पहिले कुछ लोग धन को ज़मीन में गाड़ देते थे। गड़ा हुआ

धन वैसा ही मुर्दा है जैसे गड़ा हुआ आदमी। वह बीज नहीं है जो धरती में गड़ कर उगे। गाड़ने से रुपये की आब बिगड़ जाती है। फिर भी उसमें प्रत्युत्पादन शक्ति है, उस शक्ति को कुंठित करने से आदमी समाज का अलाभ करता है। खैर, रुपये को गाड़कर निकम्मा बना देने या उसे कैदखाने में बन्दी करके डाल देने की प्रवृत्ति अब कम है। रुपया वह है जो जमा रहने भर से सूद लाता है। सूद वह इस लिए लाता है कि कुछ और लोग उस रुपये को गतिशील रखते हैं, वे उससे मुनाफा उठाते हैं। उसी गतिशीलता के मुनाफे का कुछ हिस्सा सूद कहलाता है।

रुपया गतिशील होने से ही जीवनोपयोगी है। वह हस्तान्तरित होता रहता है। वह हाथ में आता है तो हाथ से निकल कर जायेगा भी। अगर हमारे जीवन को बढ़ना है तो उस रुपये को भी व्यय होते रहना है।

लेकिन उस व्यय में हमने ऊपर देखा कि कुछ तो आज 'व्यय' है, कुछ आगे बढ़ कर "पूंजी" हो जाता है—"इन्वेस्टमेन्ट" हो जाता है। समझना होगा कि सो कैसे हो जाता है।

कल्पना कीजिये कि दिवाली आने वाली है और अपनी-अपनी मां से राम और श्याम को एक-एक रुपया मिला है। राम अपने रुपये को कुछ खिलौने, कुछ तस्वीरें और फुलझड़ी आदि लेने में खर्च करता है। श्याम अपने बारह आने की तो ऐसी ही चीजें लेता है, पर चार आने के वह रंगीन कागज लेता है। उसने शहर में कन्दील बिकते देखे हैं। उसके पिता ने घर में पिछले साल एक कन्दील बनाया भी था। श्याम ने सोचा है कि वह भी कन्दील बनायेगा और बना कर उसे बाजार में बेचने जायेगा। सोचता है कि देखें क्या होता है।

राम ने कहा—श्याम, यह काग़ज़ तुमने क्या लिये हैं? इसके बदले में वह मेम साहब वाला खिलौना ले लो न, कैसा अच्छा लगता है।

श्याम ने कहा—नहीं, मैं तो काग़ज़ ही लूंगा।

राम ने अपने हाथ के मेमसाहब वाले खिलौने को गौरव पूर्ण भाव से देखा और तनिक सदय भाव से श्याम को देख कर कहा—अच्छा!

राम न श्याम की इस कार्यवाही को नासमझी ही समझा है। राम के चेहरे पर प्रसन्नता है और उसने मेम साहब वाले अपने खिलौने को विशिष्ट रूप से सामने कर लिया है।

राम के घर में सब लोग खिलौनों से खुश हुए हैं, इसके बाद वे खिलौने टूट-फूट के लिए लापरवाही से छोड़ दिये गये हैं। उसी भांति फुलझड़ियों में से जलते वक्त भांति-भांति की चिनगारियां छूटी हैं। जल कर फिर फुलझड़ियां समाप्त हो गई हैं।

उधर यही सब श्याम के घर भी हुआ है। पर इसके बाद श्याम अपने रंगीन कागज़ों को लेकर मेहनत के साथ कंदील बनाने में लग गया है।

यहां स्पष्ट है कि श्याम के उन चार आनों का खर्च खर्च नहीं है, वह पूंजी (Investment) है।

अब कल्पना कीजिये कि श्याम की बनाई हुई कंदील चार आने से ज्यादा की नहीं बिकी। कुछ कागज़ खराब हो गये, कुछ बनाने में खूब सूरती न आई। हो सकता था कि वह चार आने से भी कम की बिकती। अच्छी साफ बनती तो मुमकिन था, ज्यादा की भी बिक सकती थी। फिर भी कल्पना यही की जाय कि वह चार आने की बिकी और श्याम उन चार आने के फिर खील-बताशे लेकर घर पहुंच गया।

इस उदाहरण में हम देख सकते हैं कि राम को दिये गये एक रुपये ने चक्कर नहीं काटा। श्याम के रुपये ने ज़रा ज्यादा चक्कर काटा। यद्यपि अन्त में श्याम का रुपया भी सोलह आने का ही रहा और इस बीच श्याम ने कुछ मेहनत भी उठाई। राम का रुपया भी बिना मेहनत के सोलह आने का रहा। फिर भी दोनों के सोलह आने के रुपये की उपयोगिता में अन्तर है। वह अन्तर श्याम के पक्ष में है और वह अन्तर यह है कि जब राम ने उसके सोलहों आने खर्च किये, तब श्याम ने उनमें के चार आने खर्च नहीं किये, बल्कि 'लगाये'। उस लगाने का मतलब यही कि उसको लेकर श्याम ने कुछ मेहनत भी की और रुपये का मूल्य अपनी मेहनत जोड़ कर उसने कुछ बढ़ा दिया।

हम कह सकते हैं कि श्याम ने रुपये से बुद्धिमानी का व्यवहार किया और श्याम राम से होनहार है। मान लो, उसकी कन्दीलें धेले की भी न बिक सकीं, फिर भी यही कहना होगा कि श्याम राम से होशियार है। उसने घाटे में रह कर भी रुपये में अधिक मूल्य डाला।

प्रत्येक व्यय एक प्रकार की प्राप्ति है। हम रुपये देते हैं तो कुछ और चीज पाते हैं। ऐसा हो नहीं सकता कि हम दें और लें नहीं। और कुछ नहीं तो यह गर्व और सम्मान ही हम लेते हैं कि हम कुछ ले नहीं रहे हैं। बिना हमें कुछ प्रतिफल दिये जब रुपया चला जाता है, तब हमें बहुत कष्ट होता है। रुपया खो गया, इसके यही माने हैं कि उसके जाने का प्रतिदान हमने कुछ नहीं पाया। जब रुपया गिर जाता है, चोरी चला जाता है, डूब जाता है, तब हम को बड़ी चोट लगती है। एक पैसा भी बिना प्रतिदान में हमें कुछ दिये हमारी जेब से यदि चला जाय तो उससे हमें दुःख होता है। यों, चाहे हजारों हम उड़ा दें। उस उड़ाने में दर असल हम उस उड़ाने का आनन्द तो पा रहे होते हैं।

इस भांति प्रतिफल के बिना कोई व्यय असंभव है। किंतु, प्रतिफल के रूप में और उसके अनुपात में तर-तमता होती है। और उसी तर-तमता के आधार पर कुछ व्यय अप व्यय और कुछ व्यय 'इन्वेस्टमेंट' हो जाता है।

ऊपर श्याम का और राम का उदाहरण दिया गया है। श्याम ने अपने रुपयेमें से चार आनेका प्रति-फल जान बूझ कर अपने से दूर बना लिया। उस प्रति-फल और उस चार आने के व्यय के बीच में उसने कन्दील बनाने और उसे बाज़ार में जाकर बेचने आदि श्रम के लिए जगह बना छोड़ी। इसलिए वह चार आने का 'इन्वेस्टमेण्ट' कहा गया और श्याम को बुद्धिमान समझा गया।

परिणाम निकला, प्रत्येक खर्च वास्तव में उपार्जन है यदि उस व्यय के प्रतिफल में कुछ फासला हो और उस फासले के बीच में मनुष्य

का श्रम हो। इसी को दूसरे शब्दों में यह कह सकते हैं कि मनुष्य और उसके श्रम के प्रतिफल के बीच में आकांक्षा की संकीर्णता न हो। अपनी तुरंत की अभिलाषा को तृप्त करने के लिए जो व्यय है, वह उतना ही कोरा व्यय अथवा अपव्यय है और उतना ही कम उपार्जन, इन्वेस्टमेण्ट अथवा सद्-व्यय है। अर्थात् प्रतिफल की दृष्टि से अपने व्यय में जितनी दूर का, भोग की जगह उपयोग का, हमारा नाता है उतना ही उस व्यय को हम उपार्जन या इन्वेस्टमेण्ट का रूप देते हैं।

इस बात के अगले परिणाम पर पहुंचे, इससे पहले यह जरूरी है कि इसको ही खुलासा करके समझें।

हमारे पास रुपया है, जो कि हमारे पास रहने के लिये नहीं है। वह अपने चक्कर पर है। हमारे पास वह इसलिये है कि हमारी जरूरतों को पूरा करने में साधन बनने के बाद हममें अतिरिक्त स्फूर्ति डालने और हमें श्रममें प्रवृत्त करने में सहयोगी बने। हम जियें और कार्य करें। इस जीवन कार्य की प्रक्रिया में ही रुपये की गतिशीलता घटित और सार्थक होती है।

स्पष्ट है कि रुपया असल अर्थ में किसी का नहीं हो सकता। वह चांदी का है। वह प्रतीक है। उसका बंधा मान है। वह निश्चित-सामर्थ्य का द्योतक है। सामर्थ्य यानी इनर्जी (energy) जब तक वह रुपया इनर्जी का उत्पादक है, तभी तक वह ठीक है। जब इनर्जी उससे नहीं ली जाती, उसे अपने आप में माल और दौलत समझ कर बटोरा और जमा किया जाता है, तब वह रोग का कारण बनता है।

जिसको इन्वेस्टमेण्ट कहा जाता है वह उस रुपये के इनर्जी-रूप को कायम रखने की ही पद्धति है। उसका हस्तांतरित होते रहना गति-चक्र को बढ़ाने और तीव्र करने में सहायक होता है। यानी इस हाथ से उस हाथ जाने की क्रिया में पैसा पहले हाथ से गया, खर्च हुआ, और दूसरे में आया, यानी आमद हुई, यह समझा जाता है। इस पद्धति में वह किंचित कहीं ठहरता भी है। वास्तव में गति अवस्थान के बिना

सम्भव नहीं होती। चेतन व्यक्त होने के लिये अचेतन का आश्रय लेता है। इनर्जी अपने अस्तित्व के लिये 'डेडमैटर' की प्रार्थिनी है। पर जैसे नींद जागरण के लिये आवश्यक है—नींद अपने आप में तो प्रमाद ही है,—जागरण की सहायक होकर ही वह स्वास्थ्य-प्रद और जरूरी बनती है; वैसे ही वह संचय है जो किसी कदर पैसे की चाल को धीमा करता है। किन्तु, प्रत्येक व्यय यदि अन्त में जाकर 'इन्वेस्टमेण्ट' नहीं है, तो वह हेय है। हम भोजन स्वास्थ्य के लिये करते हैं और सेवा के कार्य क लिये हमें स्वास्थ्य चाहिये। इस दृष्टि से भोजन पर किया गया खर्च उपार्जन बनता है। अन्यथा, रसना लोलुपता की वजह से भोजन पर किया गया अनाप-शनाप खर्च केवल व्यय रह जाता है और वह मूर्खता है। वह असल में एक रोग है और भांति-भांति के सामाजिक रोगों को जनमाता है।

जहां-जहां व्यय में उपयोगबुद्धि और विवेक-बुद्धि नहीं है, जहां-जहां उसमें अधिकाधिक ममत्व बुद्धि है, वहां ही वहां मानो रुपये के गले को घोटा जाता है और उसके प्रवाह को अवरुद्ध किया जाता है। सच्चा व्यवसायी वह है जो रुपये को काम में लगाता है और अपने श्रम का उसमें योग-दान देकर उत्पादन बढ़ाता है। सच्चा आदमी वह है जो कर्म करता है और कर्म के फल-स्वरूप और कर्म करता है। हम देखते आ रहे हैं कि वह व्यक्ति रुपये का मूल्य उठाना नहीं जानता जो उसे बस खर्च करता है। रुपये की कीमत तो वह जानता है जो उसे खर्च करने के लिये ही खर्च नहीं करता, प्रत्युत मेहनत करने लिये खर्च करता है। रुपये के सहारे जितना अधिक श्रम उत्पादन किया जाय, उतनी ही उसकी सार्थकता है।

हमने ऊपर देखा कि पैसे का पूंजी बन जाना और खर्च का कमाई हो जाना उसके प्रति फल से अपना यथासाध्य अन्तर रखने का नाम है। स्पष्ट है कि वैसे फासले के लिए किसी क़दर बेग़रजी की जरूरत है। मनुष्य की ग़रज उसे दूरदर्शी नहीं होने देती। ग़रजमन्द पैसे के

मामले में सच्चा बुद्धिमान नहीं हो सकता। हम यह भी देख सकेंगे कि मनुष्य और उसकी ज़रूरतों के बीच में जितना निस्पृहता का सम्बन्ध है उतना ही वह अपने 'इन्वेस्टमेण्ट' के बारे में गहरा हो जाता है। जो आकांक्षा-ग्रस्त है, विषय प्रवृत्त है, वह रुपये के चक्र को तंग और संकीर्ण करता है। वह समाज की संपत्ति का ह्रास करता है। वह इनर्जी को रोकता है और इस तरह विस्फोट के साधन उपस्थित करता है। प्रवाही वस्तु प्रवाह में स्वच्छ रहती है। शरीर में खून कहीं रुक जाय तो शरीर-नाश अवश्यम्भावी है। जो रुपये के प्रवाह के तट पर रह कर उसके उपयोग से अपने को स्वस्थ और सक्षम बनाने की जगह उस प्रवाही द्रव्य को अपने में खींचकर संचित कर रखना चाहता है वह मूढ़ता करता है। वह उसकी उपयोगिता का हनन करता है और अपनी मौत को पास बुलाता है।

आदर्श अलग। हम यहां व्यवहार की बात करते हैं, उपयोगिता की बात करते हैं। दुनिया क्यों न स्वार्थी हो? हम भी स्वार्थ की ही बात करते हैं। प्रत्येक व्यक्ति क्यों न समृद्ध बने? यहां भी उसी समृद्धि की बात है। हम चाहते हैं कि प्रत्येक व्यक्ति व्यवसायी हो और हर एक व्यवसायी गहरा और अधिकाधिक कुशल व्यवसायी बने। हम देखते हैं कि व्यवसायी ही है जो मालदार है। यह अहेतुक नहीं है। यह भी हम जान रखें कि कोई महापुरुष, ऊंचा पुरुष, अव्यवसायी नहीं होता। हां, वह ज़रा ऊंचा व्यवसायी होता है। हम यही दिखाना चाहते हैं कि दुनिया में अच्छे से अच्छा सौदा करना चाहिए। कोई हर्ज नहीं अगर दुनिया को हाट ही समझा जाय। लेकिन जिसके बारे में एक भक्त कवि की उक्ति उलहने में कही जा सके कि उसने—

"कौड़ी को तो खूब सँभाला लाल रतन को छोड़ दिया।"

उस आदमी को बता देना होगा कि लाल रतन क्या है और क्यों कौड़ी से उसे संतुष्ट नहीं होना चाहिये।

हमारी गरज आंखों को बांध देती है। ईश्वर की ओर से मनुष्य

की अज्ञानता के लिए बहुत सुविधा है । बहुत कुछ है जहां वह भरमा रह सकता है । लेकिन भ्रमने से क्या होगा ? हम अपने ही चक्कर में पड़े हैं । जैसे फुलझड़ी जला कर हम रंग-बिरंगी चिनगारियों को देखते हुए खुश हो सकते हैं, वैसे ही अगर चाहें तो अपनी ज़िन्दगी में आग लगा कर दूसरों के तमाशे का साधन बन सकते हैं । लेकिन पैसे का यही उपयोग नहीं है कि उसकी फुलझड़ी खरीदी जाय, न जीवन का उपयोग ऐश और आराम है । धन-संचय से अपनी सामर्थ्य नहीं बढ़ती । धन की भी सामर्थ्य कम होती है । इनर्जी को पेट के नीचे रखकर सोने में कुशल नहीं है । ऐसे विस्फोट न होगा तो क्या होगा ?

पैसा नष्ट नहीं होता । इससे यथार्थ में वह खर्च भी नहीं होता । पर अपने को उसके ज़रिये हम चुकाते हैं तब वह खर्च ही है । अपने में शक्ति लाते हैं, तब वह खर्च उपार्जन है । पैसा संवर्धन के लिये है। संवर्धन, यानी जीवन संवर्धन । धन का व्यय जहां संवर्धनोन्मुख नहीं है, वहां वह असामाजिक है, अतः पाप है । विलासोन्मुख व्यय से संपत्ति नहीं, दीनता बढ़ती है ।

धन में लालसा उस धन की उपयोगिता को कम करती है । प्रतिफल में हमारी गरज़ जितनी कम होगी, उतना ही हमारे और उसके बीच फासला होगा, उतना ही उसमें श्रम समा सकने का अवकाश होगा । उस फासले के कारण वह फल उतना ही बृहद् और मानव के उद्यम द्वारा गुणानुगुणित होता जायेगा । वह गम्भीर और सत्य व्यवसाय है जहां कर्म का और व्यय का प्रतिफल दूर होते-होते अन्तिम उद्देश्य से अभिन्न अप्रथक हो जाता है । जहां इस भांति फलाकांक्षा रहती ही नहीं । विज्ञान के, व्यवसाय के, और अन्य क्षेत्रों के महान् पुरुष वे हुए हैं, जिन्होंने तात्कालिक लाभ से आगे की बात देखी, जिन्होंने मूल-तत्व पकड़ा और जीवन को दायित्व की भांति समझा, जिन्होंने नहीं चाहा विलास, नहीं चाहा आराम, जिन्होंने सुख की ऐसे ही परवाह नहीं की, जैसे दुख की । उनका तमाम जीवन ही एक प्रकार की पूंजी, एक

प्रकार की समिधा, इन्वेस्टमेण्ट बन गया। उनका जीवन बीता नहीं, वह हविष्य बना और सार्थक हुआ। क्योंकि वे एक पुकार के प्रति, आदर्श के प्रति, एक उद्देश्य के प्रति समर्पित हुये।

अर्थशास्त्र के गणित को फैलाकर भी हम किसी और तत्व तक नहीं पहुँच पाते। यों अर्थशास्त्र अपने आप में सम्पूर्ण एवं स्वाधीन विज्ञान नहीं है। वह अधिकाधिक राजनीतिगत है, पोलिटिक्स है। पोलिटिक्स अधिकाधिक समाज-शास्त्र (Social Science) है। समाज-शास्त्र अधिकाधिक मानस-शास्त्र (Psychology) के प्रति सापेक्ष होता जाता है। मानस-शास्त्र की भी फिर अपने आप में स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। क्योंकि व्यक्ति फिर समाज में और उसका खण्ड है। और जो कुछ वह अब है उसमें समाज की तात्कालिक और तादेशिक स्थिति का भी हाथ है। इस तरह फिर अर्थ का शास्त्र, मानस-शस्त्र, प्राणि-शास्त्र और समाज-शास्त्र आदि के प्रति परस्परावलम्बित है।

अर्थ-शास्त्र के आंकिक सवाल बनाने और निकालने में हम उसके चारों ओर कोई बन्द दायरा न खड़ा कर लें। ऐसे हम उसी चक्कर के भीतर चक्कर काटते रहेंगे, और कुछ न होगा। यह ठीक नहीं है। यह उस विज्ञान को सत्यकी सत्यता से तोड़कर उसे मुरझा डालने के समान है।

ऊपर हमने देखा है कि व्यावहारिक रुपये पैसे के उपयोग का नियामक तत्व लगभग वही है जो गीता का अध्यात्म मन्त्र है—अनासक्ति निष्कामता। इस निष्कामता की नीति से कर्म का प्रतिफल नष्ट नहीं होता, न वह ह्रस्व होता है। प्रत्युत इस भांति उसके तो असंख्य गुणित होने की ही सम्भावना होजाती है। अत्यन्त व्यावहारिक व्यवहार में यदि वह तत्व सिद्ध नहीं होता है कि जिसे अध्यात्म का तत्व कहा जाता है, तो मान लेना चाहिये कि वह अध्यात्म में भी असिद्ध है अ-यथार्थ है। अध्यात्म नहीं चाहिये पर व्यवहार तो हमें चाहिये। व्यवहार से असंगत अध्यात्म का क्या करना है। वह निकम्मा है। गीता में भी तो कहा है—'योगः कर्मसु कौशलं'।

इस दृष्टि से व्यक्ति यह न कह पायेगा कि सम्पत्ति उसकी है। इसमें सम्पत्ति की बाढ़ रुकेगी। खून रुकने से रोग होगा और फिर अनेक उत्पातों का विस्फोट होगा।

हमें अपने व्यवहार में व्यक्तिगत भाषा से क्रमशः ऊंचे उठते जाना होगा। हम कहेंगे सम्पत्ति व्यक्ति की नहीं, वह सहयोग समितियों की है। कहेंगे, वह श्रमियों की है। कहेंगे वह समस्त समाज की है, जो समाज कि राष्ट्र सभा में प्रतिबिम्बित है। कहेंगे कि वह राष्ट्र की है। आगे कहेंगे कि राष्ट्र क्यों, वह समस्त मानवता की है। इसी भांति हम बढ़ते जायेंगे। अन्त तक हम देखते जायेंगे कि बढ़ने की अब भी गुंजायश है। किन्तु ध्यान रहे कि निराशा का यहां काम नहीं, व्यग्रता को भी यहां स्थान नहीं। हम पाने के लिये तैयार रहें कि यद्यपि बुद्धि संगत (Rational) आदर्श में बढ़-चढ़ कर हम मानवता से आगे विश्व और समष्टि की धारणा तक पहुंच सकते हैं। पर समष्टि कहने से व्यष्टि मिटता नहीं है। व्यक्ति भी है ही। वह अपने निज में अपने को इकाई अनुभव करता है। समष्टि हो पर वह भी है। उसे इन्कार करोगे तो वह समष्टि को इन्कार कर उठेगा। चाहे उसे इसमें मिटना पड़े, पर वह स्वयं अपने को कैसे न माने? ऐसी जगह मालूम होगा कि व्यक्तित्व' की धारणा को ब्रह्माण्ड में भी चाहे हम व्याप्त देखें, पर पिण्ड में भी उसे देखना होगा। और उस समय विश्व-समष्टि आदि शब्दों से भी असन्तुष्ट होकर हम कहेंगे कि जो है, सब परमात्मा का है, सब परमात्मा है। यह मानकर व्यक्ति अपनी सत्ता में सिद्ध भी बनता है। और वह सत्ता समष्टि के भीतर असिद्ध भी होजाती है। विचार की दृष्टि से तो हम देख ही लें कि इसके बिना समन्वय नहीं है। इसके इधर-उधर समाधान भी कहीं नहीं है। व्यक्तिगत सम्पत्ति के भाव का उन्मूलन तभी सम्भव है जब हम मानें कि व्यक्ति की इच्छायें भी उसकी अपनी न होंगी, वह सर्वांशतः परमात्मा के प्रति समर्पित होगा।

इसलिये लोगों से कहना होगा कि हां, नेशनलिजेशन, सोशलिजेशन के लिये तैयार रहो। तैयार क्यों, उस ओर बढ़ो। लेकिन मालूम होता है कि सोशलिजेशन वालों से भी कहना होगा कि देखो भाई, उसके आगे भी कुछ है। उसके लिये भी हम सब उद्यत रहें, सचेष्ट रहें। फार्मूला कुछ बनाया है, इसमें हरज नहीं, पर फार्मूला फार्मूला है। फार्मूले से कहीं बहुत चिपट न जाना। ऐसे वह बन्धन होजाता है।

५

श्रमण और हरण संस्कृति

समय चलता रहता है और चीज़ें बदलती रहती हैं। हर घड़ी कुछ-न-कुछ होता है। यानी जीवन गतिशील है और जगत परिणमनशील। सागर की तरह सम्पूर्ण संसार तरंगमय है, स्थिर कहीं कुछ नहीं है। अखिल ब्रह्माण्ड स्पन्दनशील है।

किन्तु अपनी ही गति पर अधिकार रखने और विवेक करने के लिए हमने दो शब्द बनाए हैं:—अवनति और उन्नति। गति जो नीचे की ओर है, अनिष्ट है। वह विकास में सहायक नहीं। वह अवरोध और असामंजस्य पैदा करती है। दूसरी जो इष्ट है, सामंजस्य पूर्ण है। उसे प्रगति और उन्नति कह सकते हैं।

राजनैतिक इतिहास मानव-जाति की हलचलों को आंकता और प्रकट करता है। हलचल अपने आप में सार्थक नहीं होती। जरूरी है कि वह प्रगति की दिशा में हो और उधर हमें बढ़ावे। इससे राजनैतिक हलचलों को जांचने के लिए फिर एक मान की आवश्यकता है। वह मान है संस्कृति। प्रगति की परख के मूल-मान (Values) सांस्कृतिक हैं।

पर 'संस्कृति' शब्द में भी झमेला है। उसके साथ तरह-तरह के विशेषण लगे हैं। प्राच्य-पाश्चात्य, आर्य-अनार्य, हिन्दू-मुस्लिम, वैज्ञानिक-आध्यात्मिक, एतद्देशीय और इतरदेशीय। इन विशेषणों से उलझन पैदा होती है। कभी-कभी 'संस्कृतियां' आपस में झगड़ती और टकराती भी दीखती हैं। पर संस्कृति जब तक संस्कृति है, फिर कोई विशेषण उसके

साथ हो, टक्कर में नहीं आयगी। अपने नाम के प्रति सच्ची रहकर वह सदा समन्वय साध लेगी। सामंजस्य खोज लेगी, जिनमें टक्कर हो वे चीज़ें संस्कृति ही नहीं। संस्कृति का विरोध केवल विकृति से है। इस तरह पूर्व में और पश्चिम में, आर्य-जाति और इतर जाति में, हिन्दू में और मुस्लिम में, विज्ञान और अध्यात्म में जो तत्व संस्कारी हैं, वे आपस में टकरा नहीं सकते। फिर भी यदि टक्कर है और क्लेश है तो विकृति के कारण है और विकृतियों में ही है। अन्यथा तो रूप और आकार-प्रकार के भेद से अन्तरङ्ग में भेद पड़ना जरूरी नहीं है। संस्कृति तो है ही वह जो भेद से अभेद और अनेकता से एकता की ओर चलती है। अपने को दूसरे में और दूसरे को अपने में देखने की साधना संस्कारिता है। संस्कारिता सब देश और काल में एकार्थवाची है। शब्द ही हैं जो उसके लिए भिन्न-भिन्न इस्तैमाल हो सकते और होते हैं।

संस्कृति इस तरह मानव-जाति की वह रचना है, जो एक को दूसरे के मेल में लाकर उनमें सौहार्द की भावना पैदा करती है। वह जोड़ती और मिलाती है। उसका परिणाम व्यक्ति में आत्मोपमता की भावना का विकास और समाज का सर्वोदय है।

इसके विपरीत जो फोड़ती और फाड़ती है विकृति है। उसमें अपनी-अपनी निजता पर इतना ज़ोर होता है कि समग्रता का ध्यान नहीं रहता। नतीजा यह कि हरेक अपनी निजता की रक्षार्थ दूसरे की निजता को खण्डित करता है। उसमें बराबरी और बढ़ाबढ़ी रहती है। दूसरे से खुद को बढ़ चढ़ कर मानने और दिखाने की वृत्ति उसमें गर्माई रहती है। समता के वह विरुद्ध है और ऊँच-नीच, बड़े-छोटे का भेद उसमें तीव्र होता जाता है। अहंकार में उसकी नींव है। अहंकार जरूरी तौर पर वह चीज है, जिसको संघर्ष में और मुक़ाबिले में तृप्ति है। अभिमान को स्वाद दूसरे के अपमान में मिलता है।

संस्कृति और विकृति को अन्दर की ओर से इस तरह आसानी से परखा जा सकता है। संस्कृति की आत्मा एक है। नाम-रूप चाहे अनेक

हों। विकृति भी भीतर से एक समान है । नाम-रूप उसके भी अनेक हो सकते हैं। संस्कृति है अहिंसा। विकृति की शर्त है हिंसा।

शब्द झमेला पैदा किया करते हैं। उनको सूचक रूप में जो हम नहीं लेते। शब्दों को ही यथार्थ मान बैठते हैं । परिणाम यह कि वे आवश्यकता से अधिक महत्व प्राप्त कर लेते है । सत्य भाव में है और इस तरह वह हृदय में है । शब्द में वह थोड़े ही है । शब्द में सचाई वहीं तक है जहाँ तक उसमें हृदय और भावना की सचाई है । अन्यथा तो शब्द विग्रह और कलह के काम आते हैं। तभी तो असत्य अधिक सशब्द और मुखर होता है । मिथ्या के प्रागल्भ्य के आगे सत्य तो मूक हो रहता है। इस तरह आवेश और आग्रह में शब्दों को इतना ठोस और कठोर बना दिया जाता है कि वे आपस में टकरा कर चिनगारी उत्पन्न करने लगते हैं। 'वादों' में अवसर भाषा के साथ यही बीतता है । वहाँ शब्दों को धार और किनार दे दी जाती है । उससे उनकी ऋजुता, आपस में घुल-मिल जाने, पिरो रहने की उसकी शक्ति नष्ट हो जाती है। वाद से इसीलिए विवाद उपजता है। प्रत्येक मतवाद एक ऐसे समुदाय को जन्म देता है, जो दूसरे मतवादियों से मोरचा लेने को उद्यत हो। ऐसे साम्प्रदायिकता बनती और मज़बूत होती है। ये दायरे अपने आप में बन्द और सँकरे पड़कर औरों के प्रति असहिष्णु हो जाते हैं और जीवन के प्रवाह और विकास में अवरोधक बनते हैं।

अहिंसा की बौद्धिक संज्ञा है 'अनेकांत'। अर्थात् समस्त भाषा सापेक्ष है। कथन सब अमुक अपेक्षा से ही सत्य हैं । पूर्ण सत्य कोई नहीं है । इस पद्धति से कोई मत अपने आप में सच या झूठ नहीं रहता । प्रत्येक मत की सत्यता आपेक्षिक, सापवाद और सहिष्णु हो जाती है । संस्कृति की इस तरह पहली शर्त है, मत मात्र के प्रति सहानुभूति और समभाव। उसी को दूसरे शब्दोंमें कह सकते हैं,व्यक्ति मात्र के प्रति प्रीति और सद्भाव। पहले में अहिंसा का बौद्धिक पर्याय है, तो दूसरे में हार्दिक। दोनों अन्योन्याश्रित हैं। व्यक्ति के प्रति सहानुभूतिशील होने में अनायास ही मत के

प्रति सहिष्णु होना समा जाता है। विचारो के प्रति जिसमें कट्टरता है, व्यक्तियों के प्रति भी उसमें अधिकांश राग-द्वेष ही रहता है।

अब अहिंसा कोई कोरा सिद्धान्त नहीं है। सिद्धान्त होकर अहिंसा स्वयं एक मतवाद हो जाती है। अहिंसा का वादी दूसरे और वादियों से विशेष भिन्न नहीं रहता। तब अहिंसा एक गिरोह के लिए नारा बन रहती है। यहाँ तक हो सकता है कि हिंसा के निमित्त ही अहिंसा का जयघोष किया जाय। किन्तु संस्कृति को शब्द से नहीं, सार से काम है। इसी से हमें अहिंसा के उच्चार से अधिक आचार की ओर ध्यान देना होगा।

आज की समाज-रचना अहिंसा की बुनियाद पर नहीं है। उसमें दल हैं, पक्ष हैं और विषमता है। आपसी सम्बन्ध कुछ ऐसे आधार पर बने हैं कि स्नेह कठिन और शोषण सहज होता है। एक की हानि में दूसरे का लाभ है, और एक पक्ष उभरता है तो तभी जब कि दूसरा दबता है। इन सम्बन्धों के आधार पर जो समाज का ढांचा आज खड़ा है, उसमें हम देखते हैं कि प्राणशक्ति का बहुत नाश और अपव्यय होता है। अधिकांश आदमियों की सम्भावनाएं व्यर्थ जाती हैं। एक सफल होता है तो अनेकों को असफल बना कर। इस तरह उस एक की सफलता स्वयं व्यंग हो रहती है। ऐसी समाज-व्यवस्था में जो सभ्यता, संस्कृति और संस्कारिता फलती है, वह मानव-जाति को बड़ी मँहगी पड़ती है। इसी में सन्देह है कि वह वास्तव में संस्कारिता होती है। निस्सन्देह आज सुघराई की कमी नहीं है। नफ़ासत की एक-से-एक बढ़कर चीज़ें लीजिये। शबनम के वस्त्र। सपने हारे, ऐसी फैंसी चीजें, सुख-विलास के अनेक आविष्कार। आमोद-प्रमोद के अगणित प्रकार। कहां तक गिनिएगा। कला-कौशल का भी कम विकास नहीं है। किताबें बहुत हैं और अख़बार बहुत हैं और सिनेमा बहुत हैं। इस प्रकार शालीनता और शिष्टता और आभिजात्य के वैभव का आज वैपुल्य है। बड़े शहरों की फैंसी

सोसायटी में जाने से पता चलेगा कि रुचि किस बारीकी और रंगीनी और ऊँचाई तक पहुँची है।

लेकिन क्या उससे सन्तोष हो ? ड्राइंग-रूम की भव्यता मनोहर और सुखद हो सकती है, लेकिन उस रूम से बाहर अगर गन्दगी और संड़ांद फैली हो तो ड्राइंग-रूम का सुख कितने दिन का और किस काम का ? क्या भला उसमें कोई बन्द हो सकता भी है, या उसमें भूला रह सकता है ? और जो रह सकता है क्या वह व्यक्ति ईर्ष्या के योग्य है ?

समग्रता की दृष्टि से विचार करते हैं तो कुछ ऐसा ही भाव मन में उठता है। उन मुट्ठी भर लोगों की सुघराई, जो चारों ओर के अभाव और दरिद्रता के बीच म भी अपने लिए भोग और विलास की सामग्री जुटा लेते हैं, क्या बहुत अभिनंदन की चीज़ है ? क्या हम मान लें कि वैसी सुघराई में मानवता की सिद्धि है ? नहीं, यह मान लेना कठिन होता है। मन कहता है कि सब चमक-दमक और रौनक के बावजूद इस सब सम्भ्रांत शिष्टता में असलियत उतनी नहीं है। ऊपर से जो सुन्दर है, भीतर से वही शान्त नहीं है। सौंदर्य वह आवेश का है और आनंद-प्रमोद भी, वह मुक्त नहीं है। मन तक उस आनंद का उल्लास नहीं पहुंचा है। न शिष्टाचार की मिठास ही भीतर तक पहुंची हुई दिखाई देती है। व्यवहार की वह शालीनता स्वार्थ पर दबाव पड़ने पर सहज ही जवाब दे जाती है। तब जो अत्यन्त सम्भ्रांत प्रतीत होता था, उसी में भीतर की कर्कशता और परुषता दिखाई दे जाती है।

और इसका कारण है। हरेक के पास कुछ अपना स्वत्व है। वह स्वत्व पुष्ट और सुरक्षित है, तब तक व्यक्ति अनायास सज्जन है। लेकिन आज की समाज-व्यवस्था में जैसे हरेक को अपने स्वत्व के बारे में हर घड़ी चौकन्ना रहना होता है कि कोई उस पर हाथ न डाले। वह अपने स्वत्व को चारों ओर से हवा में खुला नहीं रख सकता। उसे सुरक्षा की तरह-तरह की प्राचीरें देनी होती हैं। तब कहीं वह अपने स्वत्व को लेकर स्वस्थ हो पाता है। अदालत और पुलिस, जेल और कानून, इस तरह

शक्ति और न्याय की अनेकानेक संस्थाएं अपने चारों ओर खड़ी करके उनके घेरे के भीतर वह अपने स्वत्व का प्रदर्शन और उपभोग कर पाता है। इतने पर भी उसके मन की शंका जैसे उससे दूर नहीं होती है। उसके अपने एक स्वत्व के कारण जो अनेक स्वत्वहीन होकर समाज में विचर रहे हैं, उनका खतरा मानों उसे सशंक ही रखता है। इस तरह उसके उल्लास में भी संशय का और विलास में व्यथा का मिश्रण रहता है। वह समाज जहां प्रत्येक के स्वत्व में आपस में विग्रह है, विरोध और स्पर्द्धा है, वहां सर्वत्व का भाव समृद्ध कैसे हो सकता है? और जहाँ पर प्रत्येक का स्वत्व सर्वत्व की समृद्धि में योगदान नहीं करता, वहां संस्कृति का समर्थन और स्थिरता कहाँ? मानना चाहिए कि वह एक इमारत है, जो बेबुनियाद है, इससे कभी भी ढह सकती है। उस इमारत में ईंट-से-ईंट जुड़ी हुई नहीं है। इससे कौन जानता है कि कब वे ईंटें आपस में बज न उठेंगी।

आँखों आगे तो महायुद्ध होकर चुका है। उसका उपसंहार अब बीत रहा है। फल बीज से दूसरा नहीं होता। इससे उपसंहार युद्ध-संहार के अनुकूल हो तो क्या असम्भव? पर मानने की इच्छा है, और उसके कारण भी हैं, कि मानव जातिका अब एक जन्म,एक युग बीता। अब नव जन्म होगा। एक नये युग का आविर्भाव होगा नई आशाएं और नया संकल्प लेकर। जीर्ण की चिता में से हम नूतन का निर्माण करेंगे और उसका दिन कल नहीं आज है।

आज हमको भविष्य के लिए समाज की बुनियाद देनी है। वह बुनियाद कि जो अटल और अडिग हो। उस पर ऐसी समाज-रचना खड़ी करनी है कि जिसमें हर व्यक्ति का स्वत्व समाज के सवत्व को पुष्ट करे। हरेक की निजता परस्पर अनुकूल हो। हरेक की शक्ति हरेक को समृद्ध बनाने में लगे। किसी एक की भी शक्ति का उपयोग दूसरे को व्यर्थ करने में न हो पाये। होड़ाहोड़ में मानव प्राणों का दुरुपयोग न हो। सहयोग और सहोद्यम में जुटकर उस चैतन्य शक्ति का अधिकाधिक

सदुपयोग और सुफल हो। यह अहिंसक समाज-रचना होगी। इसमें कोई रंक न होगा, इससे राजा भी न होगा। दीन न होगा, इससे दानी की भी आवश्यकता न होगी।

पर यह काम अहिंसा के मन्त्रोच्चार से नहीं हो जानेवाला। मुंह पर नहीं, अहिंसा को कर्म में लाना होगा। तब हमसे अहिंसक संस्कृति का प्रादुर्भाव होगा। अहिंसक को मैं कहूंगा श्रमण संस्कृति। श्रमण अर्थात् श्रम पर आधार रखने वाली। श्रमण नहीं, वह हरण है। जो श्रम पर आधार नहीं रखती है, वह ज़रूर फिर हरण पर आधार रखती है। उसमें श्रम स्वयं किया नहीं जाता, अन्य के श्रम का हरण किया जाता है। हरण के आधार पर जो संस्कृति खड़ी होगी, वह निश्चय ही अपाहिज है। वह तो दूसरे के कन्धे पर बैठकर चलती है। दूसरे ने अपना कन्धा देना और झुकाना बन्द किया कि बेचारी कहीं की न रह जायगी। तब वह मुंह के बल आ रहेगी। उससे और कुछ करते न बनेगा। बेशक दूसरे का कन्धा बैठने को, या दूसरे का श्रम अपने उपभोग को, मिलते रहने से आराम तो खूब हो जाता है। हमारे पैर तब धरती को छूते भी नहीं हैं और हम ऊंचे हो जाते हैं। पावों को जो चलना नहीं पड़ता, इससे बुद्धि अच्छी चलती है। आसानी से दिमाग आस्मानी ऊंचाइयों की ओर उठता है। उससे स्वभाव में प्रभुता जागती और शील का भी उदय होता है। तब बारीक ख्याली भी आती है और कल्पना आदर्श की ओर उड़ान ले सकती है। पर यह भी है कि ये सुभीते छन में छिन सकते हैं और सपन धूल में आ मिल सकते हैं। देर नीचे वाले को यह पहचानने की है कि ऊपर वाले की तरह वह भी आदमी है।

आदमी और प्राणियों की तरह नहीं है। पक्षियों के पङ्ख हैं और वे उड़ते हैं। पशुओं को भी प्रकृति ने तरह-तरह की सुविधाएं दे दी हैं। बनैले जानवरों के बदन में कस है,नख और दन्त हैं,कि शिकार आसानी से कर लें। या नहीं तो सींग और खुर और पूंछ हैं। किसी को कुछ पहनने की ज़रूरत नहीं है। पैदा होने के साथ ही लगभग हर पशु स्वाधीन

है। पशु का अवसर है कि वह अपने ही को माने और अपने ही लिए जीये। मनुष्य की वह हालत नहीं है। एक तरह से वह हीनतर प्राणी है। बदन में उसके उतना दम नहीं। पैने नाखून और दांत नहीं। न सींग और पूंछ। न खाल इतनी मोटी और रूंएदार कि सर्दी-गर्मी सह ले। वह बना ही ऐसा है कि केवल अपने बस पर और अपने ही लिए नहीं रह सकता। अनायास उसको खाना नहीं मिल जाता। प्रकृति से ज्यों-का-त्यों भोजन पा लेने का उसे सुभीता नहीं है। इस सबके लिए उसे श्रम करना पड़ता है। यह श्रम फिर सम्मिलित रूप में होना ज़रूरी है। एक अकेले का श्रम कुछ उत्पादन नहीं कर सकता। आदमी के लिए जैसे श्रम अनिवार्य है, वैसे श्रम म सहयोग अनिवार्य है। अन्यथा इन्सान का जीवन असम्भव है। प्रकृति की ओर से मिली हुई इस लाचारी में से इन्सान में बुद्धि और विवेक का जन्म हुआ। इस तरह से इन्सान जंगली नहीं रहा सामाजिक बना।

जंगल में हरेक की स्वतन्त्रता सम्पूर्ण है। हरेक को हक़ है कि वह हर दूसरे को फाड़ खाय। वहाँ एक के निकट उसका अपनापन ही सत्य है। परस्परता का वहाँ उदय ही नहीं है। '**जीवो जीवस्य भोजनम्**'—यही वहाँ की सचाई है। पर आदमी अपने साथ दूसरे की निजता को भी पहचानने के लिए लाचार है। 'पर' में स्व' बुद्धि रखने के अभ्यास के लिए वह विवश है। यहीं से अहिंसा का आरम्भ है।

कहने की आवश्यकता नहीं कि अहिंसा के लिए श्रम अनिवार्य है। प्रकृति अपने को आदमी के समक्ष उपस्थित करके स्वयं छूट जाती है। पर प्रकृति की देन ज्यों-की-त्यों आदमी के उपयोग में नहीं आती। अन्न को बटोरना, सुखाना, कूटना, पीसना आदि होता है। आगे और अनेक उपचार हैं। तब कहीं प्रकृति का अन्न मनुष्य का खाद्य बनता है। इसी तरह कपास को कपड़े के रूप में लाने तक तरह-तरह के उद्यम उस कपास के साथ आदमी को करने पड़ते हैं। अर्थात् आदमी के उपयोग में आने वाली प्रत्येक वस्तु सम्मिलित श्रम का फल है। यह सम्मिलितता

यदि अखण्ड और स्थिर रहनी है तो जरूरी है कि समाज का कोई सदस्य अपने हिस्से के आवश्यक श्रम से बचे नहीं। जो श्रम से स्वयं बचता है, वह दूसरे शब्दों में अपने हिस्से का श्रम दूसरे के सिर पर लादता है। श्रम से बचने की इच्छा ही इस तरह समाज में विषमता और शोषण का बीज बोती है। वहीं से हिंसा के कीटाणु का प्रवेश मानिये। अहिंसा की चरितार्थता इस तरह स्पष्ट ही है स्वेच्छित श्रम में। दूसरे के प्रति सहानुभूति की कमी होगी तभी हम स्वयं श्रम से बचना चाहेंगे। मन दूसरे के लिए प्रीति से भरा होगा तब श्रम से अरुचि तो हमें होगी ही नहीं। उल्टे लगन होगी कि हमसे जितना श्रम बन सके अच्छा। सबके श्रम का फल सबको मिले तो इसमें शङ्का नहीं कि किसी को किसी तरह की कमी न रहे। कठिनाई एक ओर तो यह होती है कि सब श्रम नहीं करते। दूसरी ओर से यह कि उसका फल हिसाब से नहीं बंटता। यही क्यों, यथार्थता तो यहाँ तक है कि जो श्रम करते हैं, फल उन्हीं को नहीं के बराबर मिलता है। और जो अपेक्षाकृत श्रम नहीं ही करते हैं, उन्हें इतना अधिक मिलता है कि श्रम करना फिर उनके और उनकी संतति के लिये असम्भव होजाता है। तब श्रम करने की जगह श्रम कराना ही उन्हें अपना हक़ और पेशा जान पड़ता है। ऐसे समाज की सम्मिलितता भङ्ग होकर उसमें श्रेणी और दल पड़ जाते हैं। एक दल जो सिर्फ सिर और कन्धे झुका कर मेहनत करना जानता और उसी को अपना भाग्य मानता है। जो टुकड़ा उसके आगे डाल दिया जाय उसी पर वह पेट पालता है। यह वर्ग धीरे-धीरे पालतू चौपायों की हालत तक पहुँचता जाता है। दूसरी तरफ़ वह दल जो दूसरे की मेहनत के बल पर सिर्फ़ फ़ुरसत में जीता है। खाली दिमाग़ में, कहते हैं, शैतान बसता है। इस वर्ग के पास रचनात्मक कुछ न रहने से ख़ाली दिमाग़ के सब व्यवसाय इसे लग जाते हैं।

दलों में कटी-फटी समाज तरह-तरह के कुचक्रों का शिकार बनी रहती है। श्रम और पूंजी के विग्रह का प्रश्न सदा वहाँ उपस्थित रहता है। कारण, सिक्का श्रम से अलग होने पर पूंजी बन जाता है और पूंजी

फिर फ़ुरसत वाले चतुर लोगों का अस्त्र बन जाती है। असल में तो श्रम ही धन है। श्रम के फल के विनिमय और वितरण के सुभीते के लिए सिक्का बना है। पर सिक्का जमा करके रखा जा सकता है। वह बिगड़ता नहीं, गलता नहीं। जीवन के उपभोग में आने वाली चीज़ों का यह हाल नहीं है। एक परिमाण और समय से आगे उन्हें नहीं रखा जा सकता। वे पदार्थ छीजते और क्षय होते हैं। इसलिए सिक्के के संग्रह का लोभ उत्पन्न हुआ और वह अपने आप में धन बनने लगा। आगे जाकर तो सिक्के और श्रम में जैसे वैर ही होगया। अधिकार-प्राप्त मुट्ठी भर लोगों के हाथ में सिक्के की टकसाल हो गई और फैली हुई जनता के हाथ में कोरा श्रम रह गया। बीच में कुछ छुटभइयों की जमात बन खड़ी हुई, जो श्रम को ले-लेकर पूंजी के हाथों बेचने का काम करने लगी। ऐसे श्रम बिकना और चुसना आरम्भ होगया। जहां श्रम क्रय और विक्रय की चीज़ हुई, वहाँ ही मानों श्रम से बचना, यानी फ़ुरसत (Liesure), जीवन का परम इष्ट होगयी। खरीदने वाला सस्ते-से-सस्ता श्रम को खरीदना चाहने लगा, और वह वर्ग, जिसके पास श्रम था और उसके सिवाय कुछ न था, बेमन और बेबस भाव से उस श्रम को बाज़ार-भाव बेचने के लिए लाचार हुआ। साफ़ है कि श्रमिक वर्ग की निगाह श्रम पर नहीं, फ़ुरसत पर है, जैसे कि और सबकी है।

यह हालत अच्छी कैसे कही जा सकती है। निश्चय ही बिन मेहनत आदमी नहीं चल सकता, और नहीं जी सकता। यह उसकी विवशता नहीं, कृतार्थता है। यहीं पुरुषार्थ का धर्म आता है। इसी में से मानव की सिद्धि है। मानव में मानवता का विकास पुरुषार्थ को किनारा देकर चलने की कोशिश से नहीं सिद्ध होगा। श्रमहीन होकर मनुष्य कर्महीन और नीतिहीन भी हो जायगा। लेकिन फिर भी हम देखते हैं कि उद्यम को नहीं, फ़ुरसत को लक्ष्य समझा जाता है। जहाँ फ़ुरसत अपने आप में लक्ष्य हो वहाँ संस्कृति नहीं, स्वार्थ ही पनप सकता है।

श्रमण संस्कृति में इससे उल्टे श्रम ही सार है। वही असल धन है। पूंजी श्रम के अतिरिक्त कुछ है ही नहीं। श्रम ही वहां असल मूल्य (Value) है। सिक्का उसका प्रतीक भर है। इसलिए श्रमण-दर्शन (सम्यक् दर्शन) में सच्चा धनिक वह है, जिसके पास सहानुभूतिशील हृदय और स्वस्थ शरीर है। वही सच्चा धार्मिक है। कारण, स्नेह-भाव से वह स्वेच्छित श्रम करता है। ऐसा व्यक्ति अकिंचन है, कारण उसे जोड़ने की आकांक्षा और आवश्यकता नहीं है, वह सदा भरपूर है। वह अपरिग्रही है; क्योंकि वह अपने सम्बन्ध में और भविष्य के सम्बन्ध में भी निश्शंक है। उसमें चिंता और संशय की रिक्तता नहीं है कि उस गढ़े को भरने के लिए वह परिग्रह बटोरे।

विलायती एक शब्द है प्रॉलीतारियत (Prolitariat) उसका तात्पर्य कुछ ऐसा ही है। जिस वर्ग के पास उसका श्रम ही सब कुछ है। वह है प्रालीतारियत। लेकिन श्रमण को उससे बढ़कर मानना चाहिये। श्रमण में स्नेह अतिरिक्त है। सर्वाहारा में अपने बारे में अभाव का भाव हो सकता है। अपनी अवस्था पर उसमें आक्रोश और शिकायत हो सकती है। पूंजीपतियों के लिए द्वेष और घृणा उसमें हो सकती है। श्रमण में इन सब प्रतिक्रियात्मक भावों के लिए अवकाश नहीं। जिनकी स्नेह की पूंजी लुट गई है और शरीर और मन का स्वास्थ्य भी जिन्होंने खो दिया है, ऐसे पूंजीपति वर्ग के लिए श्रमण के मन में करुणा है। जिनके पास द्रव्य का सञ्चय और परिग्रह का संग्रह है, श्रमण जानता है कि उनके पास आत्म-श्रद्धा का दिवाला है। उनके मन के स्नेह को संशय और अविश्वास ने खा डाला है। इस तरह वे प्राणी वास्तव में दीन और दयनीय हैं। वे रुग्ण हैं और इलाज के पात्र हैं। रोगी पर रोष नहीं करना होगा, सेवा से उनका इलाज होगा। उन्हें समाप्त यदि नहीं करना है, स्वस्थ करना है तो यह काम स्नेह से हीन होकर कैसे किया जा सकेगा। रोग के साथ जिसमें रोगी का नाश होता हो वह चिकित्सा-शास्त्र अधूरा है और मिथ्या है। नाश की इच्छा में ईर्षा का बीज है।

धनिक की ईर्षा के नीचे धन की चाह दुबकी माननी चाहिये। इसलिये श्रमण पूंजीपति के द्रव्य को और साज-सामान की अनावश्यक अतिशयता को छीनना नहीं चाहता, बल्कि जड़ पदार्थ के उस भार से उस व्यक्ति को मुक्त देखना चाहता है। यहां भाषा का अन्तर न माना जाय, वृत्ति का ही अन्तर है। यानी श्रमण पूंजीपति-वर्ग को ऊपर के (सरकार के, कानून के, शक्ति के) दबाव से नहीं, बल्कि भीतर की (अन्तःकरण की, आत्म-जागरण की, स्नेह-प्रसार की) प्रेरणा से उसके रोग से उत्तीर्ण और स्वस्थ करना चाहेगा। धन छिनने से व्यक्ति में से धन की लालसा नहीं छिनती। लोभ और संग्रह वृत्ति का बीज उसमें मौजूद रहता ही है और वक्त पाते ही फल उठ सकता है। हृदय-परिवर्तन न हो तब तक कानून का घेरा-पहरा रहने पर भी व्यक्ति की असामाजिक वृत्तियों का खतरा बना ही रहता है।

समाजवाद भी समाज की इस विषमता का इलाज सुझाता है। वह इलाज गणित का है। वह चौकस है और उसमें चूक निकालना मुश्किल है। क्या अच्छा था कि जीवन गणित के बस होसकता! पर वैसा होता नहीं। कभी हुआ नहीं, कभी हो पायेगा भी नहीं। कारण, मनुष्य पदार्थ नहीं है, वह व्यक्ति है। पदार्थ के रूप में उसके साथ व्यवहार करना यदि सम्भव भी हो तो भी नहीं है। वह व्यक्ति है। पदार्थ के रूप में उसके साथ व्यवहार करना यदि सम्भव भी हो तो भी अनिष्ट है। हार्स-पावर (Horse-power) का १/१० आदमी नहीं है। आदमी को यदि हम वैसा बना देसकें तो हिसाब की सचमुच बहुत सुविधा होजाय। लेकिन शुभसंयोग की बात है कि हिसाब को वैसा सुभीता देना मनुष्य के वश का नहीं है। उस अपने हृदय को बाद देकर वह जी ही नहीं सकता जिसकी गहराई में स्नेह का वास है। अतः वह सहयोग प्रेम और सेवा के बिना भी रह नहीं सकता। अपनी अन्तः प्रकृति से वह इस बारे में विवश ह। लौट कर पशु बनना उसके लिए सम्भव नहीं। हिलमिल कर वह रहेगा, फूलेगा और फलेगा। बीच में कलह भी हो लेगी और लड़ा-

इयां भी हो बीतेंगी। उनको पार करता हुआ वह अपने हेलमेल को बढ़ाता ही जायगा। उसका अन्तस्थ प्रेम शत्रुता से परास्त न होगा। वह हारेगा नहीं और बैर की व युद्ध की सब बाधाओं को पार करके ही छोड़ेगा। वह चला चलेगा, बढ़ा चलेगा। यहाँ तक कि मनुष्य-जाति एक होगी और सब उसके लिए भाई-भाई होंगे।

यह सपना सुलभ सबको है, पर श्रमण के लिए तो यह उसका व्रत भी है। उसको सामने रखकर वह अपना पग डिगायेगा नहीं। किसी तात्कालिक लाभ के लिए अपना व्रत वह भङ्ग नहीं करेगा। मानव-जाति के भविष्य को कीमत में देकर कोई सुभीता अपने लिए वह नहीं जुटायेगा। राजनैतिक लाभ के लिए संस्कृति की हानि नहीं होने देगा। राष्ट्रीय स्वाधीनता जैसे शब्दों के लिए अहिंसा के ध्रुव को वह नहीं खोयेगा।

श्रम और उसके फल के विभाजन का सवाल आज का प्रमुख सवाल है। सवाल का हल अहिंसक यानी श्रमण संस्कृति यों सुझावेगी: 'श्रम तुम्हारा धर्म है, फल में आसक्ति क्यों?'

आज की समस्या विकट बनी हुई ही इस कारण है कि श्रम कोई नहीं चाहता, फल सब चाहते हैं। मेहनत नहीं, सब आराम चाहते हैं। लेकिन श्रमण फल की जगह श्रम को ही चाहेगा। वह आराम से बचेगा और मेहनत को हाथ में लेगा। वह सब कुछ जो भोग है उसके लिए त्याज्य होगा; क्योंकि भोग में श्रम-शक्ति का क्षय है। तप (स्वेच्छित श्रम (अपने हिस्से लेकर) भोग (फलोपभोग) श्रमण दूसरेके लिए छोड़ देगा। ऐसे ही आराम सब वह दूसरे के लिए मानेगा। उस आराम को अपने श्रम से पर निमित्त जुटा देना ही वह अपना दायित्व जिम्मे समझेगा।

गीता में यज्ञ को धर्म कहा है। बाइबिल की भाषा में उसी को 'क्रास' कहते हैं। उस धर्म को श्रम के स्वेच्छित स्वीकार के आधार पर ही आज चरितार्थ किया जा सकता है। अन्यथा तो हमारे जीवन की नींव में हरण और हिंसा और अधर्म का रहना अनिवार्य ही है, फिर चाहे

उस भवन का ऊपरी भाग कितना भी रम्य, आकर्षक और लुभावना क्यों न हो। ऊपर की मनोरमता से लुभा कर उस भवन में हम चैन से बैठे रहेंगे तो अपने को धोखा ही देंगे।

संस्कृति का अहिंसक आरम्भ और निर्माण ही सम्भव है। अहिंसा से जहाँ च्युति है, वहाँ विकृति है। अहिंसक जीवन, अर्थात् सश्रम जीवन, अर्थात् फल भोग की ओर से निराग्रही जीवन। श्रमण-धर्म इसी जीवनादर्श को सामने रखता है और उसी में से मनुष्यता को त्राण मिल सकता है।

: ६ :

बाज़ार दर्शन

एक बार की बात कहता हूं। मित्र बाज़ार गये तो थे कोई एक मामूली चीज़ लेने, पर लौटे तो एकदम बहुत-से बंडल पास थे।

मैंने कहा—यह क्या ?

बोले—यह जो साथ थीं।

उनका आशय था कि यह पत्नी की महिमा है। उस महिमा का मैं क़ायल हूं। आदि काल से इस विषय में पति से पत्नी की ही प्रमुखता प्रमाणित है। और यह व्यक्तित्व का प्रश्न नहीं, स्त्रीत्व का प्रश्न है। स्त्री माया न जोड़े, तो क्या मैं जोड़ूं ? फिर भी सच सच है और वह यह कि इस बात में पत्नी की ओट ली जाती है। मूल में एक और तत्त्व की महिमा सविशेष है। वह तत्व है मनीबेग, अर्थात् पैसे की गर्मी या एनर्जी।

पैसा पावर है। पर उसके सबूत में आसपास माल-टाल न जमा हो तो क्या वह ख़ाक पावर है ! पैसे को देखने के लिए बैंक-हिसाब देखिये, पर माल-असबाब मकान-कोठी तो अनदेखे भी दीखते हैं। पैसे की उस 'पर्चेज़िंग पावर' के प्रयोग में ही पावर का रस है।

लेकिन नहीं। लोग संयमी भी होते हैं। वे फ़िज़ूल सामान को फ़िज़ूल समझते हैं। वे पैसा बहाते नहीं हैं और बुद्धिमान् होते हैं। बुद्धि और संयमपूर्वक वह पैसे को जोड़ते जाते हैं, जोड़ते जाते हैं। वह पैसे की पावर को इतना निश्चय समझते हैं कि उसके प्रयोग की परीक्षा उन्हें

दरकार नहीं है। बस खुद पैसे के जुड़ा होने पर उनका मन गर्व से भरा फूला रहता है।

मैंने कहा—यह कितना सामान ले आये !

मित्र ने सामने मनीबेग फैला दिया, कहा—यह देखिये। सब उड़ गया, अब जो रेल-टिकट के लिए भी बचा हो !

मैंने तब तय माना कि और पैसा होता तो और सामान आता। वह सामान ज़रूरत की तरफ़ देखकर नहीं आया, अपनी 'पर्चेज़िंग पावर' के अनुपात में आया है।

लेकिन ठहरिये। इस सिलसिले में एक और भी महत्त्व का तत्व है, जिसे नहीं भूलना चाहिये। उसका भी इस करतब में बहुत कुछ हाथ है। वह महत्तत्त्व है, बाजार।

मैंने कहा—यह इतना कुछ नाहक ले आये !

मित्र बोले—कुछ न पूछो। बाज़ार हैं कि शैतान का जाल है ? ऐसा सजा-सजाकर माल रखते हैं कि बेहया ही हो जो न फँसे।

मैंने मन में कहा, ठीक। बाज़ार आमंत्रित करता है कि आओ मुझे लूटो और लूटो। सब भूल जाओ,मुझे देखो। मेरा रूप और किसके लिए है ? मैं तुम्हारे लिए हूं। नहीं कुछ चाहते हो, तो भी देखने में क्या हरज है। अजी आओ भी।

इस आमंत्रण में यह खूबी है कि आग्रह नहीं है। आग्रह तिरस्कार जगाता है। लेकिन ऊँचे बाज़ार का आमंत्रण मूक होता है और उससे चाह जगती है। चाह मतलब अभाव। चौक बाज़ार में खड़े होकर आदमी को लगने लगता है कि उसके अपने पास काफ़ी नहीं है। और चाहिये, और चाहिये। मेरे यहां कितना परिमित है और यहां कितना अतुलित है। ओह !

कोई अपने को न जाने तो बाज़ार का यह चौक उसे कामना से विकल बना छोड़े। विकल क्यों, पागल। असंतोष और तृष्णा और ईर्षा से घायल कर मनुष्य को सदा के लिए यह बेकार बना डाल सकता है।

एक और मित्र की बात है। वह दोपहर के पहले के गये-गये बाज़ार से कहीं शाम को वापिस आये। आये तो ख़ाली हाथ !

मैंने पूछा—कहां रहे ?

बोले—बाज़ार देखते रहे।

मैंने कहा—बाज़ार का देखते क्या रहे ?

बोले—क्यों ? बाज़ार—

तब मैंने कहा—लाये तो कुछ नहीं !

बोले—हां। पर यह समझ न आता था कि न लूँ तो क्या ? सभी कुछ तो लेने को जी होता था। कुछ लेने का मतलब था शेष सब कुछ को छोड़ देना। पर मैं कुछ भी नहीं छोड़ना चाहता था। इससे मैं कुछ भी नहीं ले सका।

मैंने कहा—ख़ूब !

पर मित्र की बात ठीक थी। अगर ठीक पता नहीं है कि क्या चाहते हो तो सब ओर की चाह तुम्हें घेर लेगी। और तब परिणाम त्रास ही होगा, गति नहीं होगी, न कर्म।

बाज़ार में एक जादू है। वह जादू आंख की राह काम करता है। वह रूप का जादू है। पर जैसे चुम्बक का जादू लोहे पर ही चलता है, वैसे ही इस जादू की भी मर्यादा है। जेब भरी हो, और मन ख़ाली हो, ऐसी हालत में जादू का असर ख़ूब होता है। जेब ख़ाली पर मन भरा न हो, तो भी जादू चल जायगा। मन ख़ाली है तो बाज़ार की अनेकानेक चीजों का निमंत्रण उस तक पहुंच जायगा। कहीं हुई उस वक्त जेब भरी तब तो फिर वह मन किसकी माननेवाला है ! मालूम होता है यह भी लूं, वह भी लूं। सभी सामान ज़रूरी और आराम को बढ़ानेवाला मालूम होता है। पर यह सब जादू का असर है। जादू की सवारी उतरी कि पता चलता है कि फैन्सी चीजों की बहुतायत आराम में मदद नहीं देती, बल्कि ख़लल ही डालती है। थोड़ी देर को स्वाभिमान को ज़रूर सेंक मिल जाता है। पर इससे अभिमान की गिल्टी को और ख़ुराक ही मिलती

है। जकड़ रेशमी डोरी की हो तो रेशम के स्पर्श के मुलायम होने के कारण क्या वह कम जकड़ होगी ?

पर उस जादू की जकड़ से बचने का एक सीधा-सा उपाय है। वह यह कि बाजार जाओ तो मन ख़ाली न हो। मन ख़ाली हो, तब बाज़ार न जाओ। कहते हैं लू में जाना हो तो पानी पीकर जाना चाहिये। पानी भीतर हो, लू का लूपन व्यर्थ हो जाता है। मन लक्ष्य में भरा हो तो बाजार भी फैला का फैला ही रह जायगा। तब वह घाव बिल्कुल नहीं दे सकेगा, बल्कि कुछ आनन्द ही देगा। तब बाज़ार तुम से कृतार्थ होगा, क्योंकि तुम कुछ न कुछ सच्चा लाभ उसे दोगे। बाज़ार की असली कृतार्थता है आवश्यकता के समय काम आना।

यहां एक अन्तर चीन्ह लेना बहुत ज़रूरी है! मन खाली नहीं रहना चाहिए, इसका मतलब यह नहीं है कि वह मन बंद रहना चाहिये। जो बंद हो जायगा, वह शून्य हो जायगा। शून्य होने का अधिकार बस परमात्मा का है जो सनातन भाव से सम्पूर्ण है। शेष सब अपूर्ण है। इससे मन बन्द नहीं रह सकता। सब इच्छाओं का निरोध कर लोगे, यह झूठ है। और अगर 'इच्छानिरोधस्तपः' का ऐसा ही नकारात्मक अर्थ हो तो वह तप झूठ है। वैसे तप की राह रेगिस्तान को जाती होगी, मोक्ष की राह वह नहीं है। डाट देकर मन को बन्द कर रखना जड़ता है। लोभ का यह जीतना नहीं है कि जहाँ लोभ होता है, यानी मन में, वहाँ नकार हो। यह तो लोभ का ही जीत है और आदमी का हार। आँख अपनी फोड़ डाली, तब लोभनीय के दर्शन से बचे तो क्या हुआ? ऐसे क्या लोभ मिट जायगा? और कौन कहता है कि आँख फूटने पर रूप दीखना बन्द हो जायगा? क्या आंख बन्द करके ही हम सपने नहीं लेते हैं? और वे सपने क्या चैन भग नहीं करते हैं? इससे मन को बन्द कर डालने की कोशिश तो अच्छी नहीं। वह अकारथ है। यह तो हठवाला योग है। शायद हठ ही हठ है, योग नहीं है। इससे मन कृश भले हो जाय और पीला और अशक्त जैसे विद्वान् का ज्ञान। वह मुक्त ऐसे

नहीं होता। इससे वह व्यापक की जगह संकीर्ण और विराट् का जगह क्षुद्र होता है। इसलिए उसका रोम-रोम मूंदकर बंद तो मन को करना नहीं चाहिये। वह मन पूर्ण कब है? हममें पूर्णता होती तो परमात्मा से अभिन्न हम महाशून्य ही न होते? अपूर्ण हैं, इसी से हम हैं। सच्चा ज्ञान सदा इसी अपूर्णता के बोध को हम में गहरा करता है। सच्चा कर्म सदा इस अपूर्णता की स्वीकृति के साथ होता है। अतः उपाय कोई वही हो सकता है जो बलात् मन को रोकने को न कहे, जो मन की भी इसलिए सुने क्योंकि वह अप्रयोजनीय रूप में हमें नहीं प्राप्त हुआ है। हां, मन-मानेपन की छूट मन को न हो, क्योंकि वह अखिल का अंग है, खुद कुल नहीं है।

पड़ोस में एक महानुभाव रहते हैं जिनको लोग भगत जी कहते हैं। चूरन बेचते हैं। यह काम करते जाने उन्हें कितने बरस हो गये हैं। लेकिन किसी एक भी दिन चूरन से उन्होंने छः आने पैसे से ज्यादे नहीं कमाये। चूरन उनका आसपास सरनाम है। और खुद खूब लोकप्रिय हैं। कहीं व्यवसाय का गुर पकड़ लेते और उस पर चलते तो आज खुशहाल क्या मालामाल होते। क्या कुछ उनके पास न होता! इधर दस वर्षों से मैं देख रहा हूं, उनका चूरन हाथों-हाथ जाता है। पर वह न उसे थोक देते हैं, न व्यापारियों को बेचते हैं। पेशगी आर्डर कोई नहीं लेते। बंधे वक्त पर अपनी चूरन की पेटी लेकर घर से बाहर हुए नहीं कि देखते-देखते छः आने की कमाई उनकी हो जाती है। लोग उनका चूरन लेने को उत्सुक जो रहते हैं। चूरन से भी अधिक शायद वह भगतजी के प्रति अपनी सद्भावना का देय देने को उत्सुक रहते हैं। पर छः आने पूरे हुए नहीं कि भगतजी बाक़ी चूरन बालकों को मुफ्त बांट देते हैं। कभी ऐसा नहीं हुआ है कि कोई उन्हें पच्चीसवां पैसा भी दे सके! कभी चूरन में लापरवाही नहीं हुई है, और कभी रोग होता भी मैंने उन्हें नहीं देखा है।

और तो नहीं, लेकिन इतना मुझे निश्चय मालूम होता है कि इन चूरनवाले भगतजी पर बाज़ार का जादू नहीं चल सकता।

कहीं आप भूल न कर बैठियेगा। इन पंक्तियों को लिखनेवाला मैं चूरन नहीं बेचता हूं। जी नहीं, ऐसी हलकी बात भी न सोचियेगा। यह न समझियेगा कि लेख के किसी भी मान्य पाठक से उस चूरनवाले को श्रेष्ठ बताने की मैं हिम्मत कर सकता हूं। क्या जानें उस भोले आदमी को अक्षर-ज्ञान तक भी है या नहीं। और बड़ी बातें तो उसे मालूम क्या होंगी। और हम आप न जाने कितनी बड़ी-बड़ी बातें जानते हैं। इससे यह तो हो सकता है कि वह चूरनवाला भगत हम लोगों के सामने एकदम नाचीज़ आदमी हो। लेकिन आप पाठकों की विद्वान् श्रेणी का सदस्य होकर भी मैं यह स्वीकार करना चाहता हूं कि उस अपदार्थ प्राणी को वह प्राप्त है जो हम में से बहुत कम को शायद प्राप्त है। उसपर बाज़ार का जादू वार नहीं कर पाता। माल बिछा रहता है, और उसका मन अडिग रहता है। पैसा उसके आगे होकर भीख तक मांगता है कि मुझे लो। लेकिन उसके मन में पैसे पर दया नहीं समाती। वह निर्मम व्यक्ति पैसे को अपने आहत गर्व में बिलखता ही छोड़ देता है। ऐसे आदमी के आगे क्या पैसे की व्यङ्ग-शक्ति कुछ भी चलती होगी? क्या वह शक्ति कुंठित रहकर सलज्ज ही न हो जाती होगी?

पैसे की व्यङ्ग-शक्ति की सुनिये। वह दारुण है। मैं पैदल चल रहा हूं कि पास ही धूल उड़ाती निकल गई मोटर। वह क्या निकली मेरे कलेजे को कोंधती एक कठिन व्यङ्ग की लीक ही आर से पार होगई। जैसे किसीने आंखों में उंगली देकर दिखा दिया हो कि देखो, उसका नाम है मोटर, और तुम उससे वंचित हो! यह मुझे अपनी ऐसी विडम्बना मालूम होती है कि बस पूछिये नहीं। मैं सोचने को हो आता हूं कि हाय, ये ही मां-बाप रह गये थे जिनके यहां मैं जन्म लेने को था! क्यों न मैं मोटरवालों के यहां हुआ! उस व्यङ्ग में इतनी शक्ति है कि ज़रा में मुझे अपने सगों के प्रति कृतघ्न कर सकती है।

लेकिन क्या लोकवैभव की यह व्यङ्ग-शक्ति उस चूरनवाले अकिं-चित्कर मनुष्य के आगे चूर-चूर होकर ही नहीं रह जाती? चूर-चूर क्यों, कहो पानी-पानी।

तो वह क्या बल है जो इस तीखे व्यङ्ग के आगे अजेय ही नहीं रहता, बल्कि मानो उस व्यङ्ग की क्रूरता को ही पिघला देता है?

उस बल को नाम जो दो; पर वह निश्चय उस तल की वस्तु नहीं है जहां पर संसारी वैभव फलता-फूलता है। वह कुछ अपर जाति का तत्त्व है। लोग स्पिरिचुअल कहते हैं; आत्मिक, धार्मिक, नैतिक कहते हैं। मुझे योग्यता नहीं कि मैं उन शब्दों में अंतर देखूं और प्रतिपादन करूं। मुझे शब्द से सरोकार नहीं। मैं विद्वान् नहीं कि शब्दों पर अटकूं। लेकिन इतना तो है कि जहां तृष्णा है, बटोर रखने की स्पृहा है, वहां उस बल का बीज नहीं है। बल्कि यदि उसी बल को सच्चा बल मानकर बात की जाय तो कहना होगा कि संचय की तृष्णा और वैभव की चाह में व्यक्ति की निर्बलता ही प्रमाणित होती है। निर्बल ही धन की ओर झुकता है। वह अबलता है। वह मनुष्य पर धन की और चेतन पर जड़ की विजय है।

एक बार चूरन वाले भगतजी बाज़ार चौक में दीख गये। मुझे देखते ही उन्होंने जय जयराम किया। मैंने भी जयराम कहा। उनकी आंखें बन्द नहीं थीं और न उस समय वह बाज़ार को किसी भांति कोस रहे मालूम होते थे। राह में बहुत लोग, बहुत बालक मिले जो भगतजी द्वारा पहचाने जाने के इच्छुक थे। भगतजी ने सबको ही हंसकर पहचाना। सबका अभिवादन लिया और सबको अभिवादन दिया। इससे तनिक भी यह नहीं कहा जा सकेगा कि चौक बाज़ार में होकर उनकी आंखें किसी से भी कम खुली थीं। लेकिन भौंचक्के हो रहने की लाचारी उन्हें नहीं थी। व्यवहार में पसोपेश उन्हें नहीं था और खोये-से खड़े नहीं वह रह जाते थे। भांति-भांति के बढ़िया माल से चौक भरा पड़ा है। उस सबके प्रति अप्रीति इन भगत के मनमें नहीं है। जैसे उस समूचे माल के प्रति

भी उनके मन में आशीर्वाद हो सकता है। विद्रोह नहीं, प्रसन्नता ही भीतर है, क्योंकि कोई रिक्त भीतर नहीं है। देखता हूँ कि खुली आँख, तुष्ट और मग्न, वह चौक बाज़ार में से चलते चले जाते हैं। राह में बड़े-बड़े फैंसीस्टोर पड़ते हैं, पर पड़े रह जाते हैं। कहीं भगत नहीं रुकते। रुकते हैं तो एक छोटी पंसारी की दुकान पर रुकते हैं। वहाँ दो-चार अपने काम की चीज़ लीं, और चले आते हैं। बाज़ार से हठ-पूर्वक विमुखता उनमें नहीं है; लेकिन अगर उन्हें ज़ीरा और काला नमक चाहिये तो सारे चौक बाज़ार की सत्ता उनके लिए तभी तक है, तभी तक उपयोगी है, जब तक वहाँ ज़ीरा मिलता है। ज़रूरत भर ज़ीरा वहाँ से ले लिया कि फिर सारा चौक उनके लिए आसानी से नहीं बराबर हो जाता है। वह जानते हैं कि जो उन्हें चाहिये वह है ज़ीरा-नमक। बस इस निश्चित प्रतीति के बल पर शेष सब चाँदनी चौक का आमंत्रण उन पर व्यर्थ होकर बिखर रहता है। चौक की चाँदनी दाएँ-बाएँ भूखी-का-भूखी फैली रह जाती है; क्योंकि भगत जी को ज़ीरा चाहिये वह तो कोनेवाली पंसारीकी दुकान से मिल जाता है और वहाँ से सहज भाव में ले लिया गया है। इसके आगे आस-पास अगर चाँदनी बिछी रहती है तो बड़ी खुशी से बिछी रहे, भगतजी उस बेचारी का कल्याण ही चाहते हैं।

यहाँ मुझे ज्ञात होता है कि बाज़ार को सार्थकता भी वही मनुष्य देता है जो जानता है कि वह क्या चाहता है। और जो नहीं जानते कि वे क्या चाहते हैं, अपनी 'पर्चेज़िंग पावर' के गर्व में अपने पैसे से केवल एक विनाशक शक्ति—शैतानी-शक्ति, व्यंग की शक्ति ही बाज़ार को देते हैं। न तो वे बाज़ार से लाभ उठा सकते हैं, न उस बाज़ार को सच्चा लाभ दे सकते हैं। वे लोग बाज़ार का बाज़ारूपन बढ़ाते हैं। जिसका मतलब है कि कपट बढ़ाते हैं। कपट की बढ़ती का अर्थ परस्पर में सद्भाव की घटी। इस सद्भाव के ह्रास पर आदमी आपस में भाई-भाई और सुहृद और पड़ोसी फिर रह ही नहीं जाते हैं और आपस में कोरे गाहक और बेचक की तरह व्यवहार करते हैं। मानो दोनों एक-

दूसरे को ठगने की घात में हों। एक की हानि में दूसरे को अपना लाभ दीखता है और यह बाज़ार का, बल्कि इतिहास का, सत्य माना जाता है। ऐसे बाज़ार को बीच में लेकर लोगों में आवश्यकताओं का आदान-प्रदान नहीं होता, बल्कि शोषण होने लगता है। तब कपट सफल होता है, निष्कपट शिकार होता है। ऐसा बाज़ार मानवता के लिए विडम्बना है। और जो ऐसे बाज़ार का पोषण करता है, जो उसका शास्त्र बना हुआ है, वह अर्थ-शास्त्र सरासर औंधा है। वह मायावी (Capitalistic) शास्त्र है। वह अर्थ-शास्त्र अनीति-शास्त्र है।

: ७ :

दान की बात

दान देने को कहते हैं। दिये बिना चल नहीं सकता, जैसे लिये बिना नहीं चल सकता। कुछ या कोई अपने में पूरा और बन्द नहीं है, औरों के साथ किसी न किसी तरह के सम्बन्ध में वह जुड़ा हुआ है। इन सम्बन्धों के ज़रिये वह अपने लिए आपसीपन जुटाता और अपने को और अपनी आत्मीयता को फैलाता है। चेतना का स्वभाव ही यह है। शास्त्र-कार ने जीव का लक्षण परस्परोपग्रह कहा है। यानी देन-लेन के द्वारा आपस में एक-दूसरे के काम आना।

साँस हम में जीवन की पहचान है। उसका आना-जाना रुका कि वही मृत्यु। भीतर से वायु लेकर उसे फिर बाहर दे देने को श्वास-प्रश्वास कहते हैं। उस ली हुई हवा का अणु भी हम अपने भीतर रोक रख नहीं सकते। सबकी सब साँस वापस लौटा देनी होती है। इसी क्रिया से हमारा जीवन चलता है। श्वास लेकर लौटा न सकें, या देकर फिर न ले सकें तो जीवनी शक्ति समाप्त समझिये।

दान इस तरह जीव का अनिवार्य धर्म है। वह सहज धर्म है। वह उससे अलग नहीं हो सकता। जो जितना धार्मिक हो उसे उतना ही निःशेषदानी मानिए। कुछ रहता ही नहीं उसके पास जो वह न दे। अपना सर्वस्व वह दिए हुए है। शरीर रखता है; तो भी पर निमित्त। प्राण मानों उसमें उसके होकर नहीं, विसर्जित होकर रहते हैं। ऐसा व्यक्ति यथावश्यक लेकर यथासाध्य देता है। सच पूछो तो मात्र आवश्यक भी

जो लेता है वह ऋण रूप में। उससे वह नम्र बनता है। उस पर उसका मन प्रार्थना से भीगा रहता है। तब उसकी सब प्रवृत्तियाँ मानों ऋण-मोचन के निमित्त से होती हैं। सतत आत्मदान ही मानो उसका जीवन बनता है।

सच तो यह कि इसके सिवा दूसरा संभव नहीं है। वृक्ष के लिए क्या यह शक्य है कि वह अपने पर फल न आने दे? फूल के लिए संभव है कि वह सुरभि को अपने में रोकले? वैसे ही मनुष्य के लिए अपने को रोक रखना या न देना संभव नहीं है। दे न सकेगा उससे पहले जीना ही रुक चुका होगा। वृक्ष फल देता है, फूल सुवास देता है, बादल पानी देता है, सूरज धूप देता है—यहाँ देने शब्द का प्रयोग औपचारिक ही है। असल में देने के गर्व को वहाँ कहाँ अवकाश? सब स्वानुरूप वर्तन में नियुक्त हैं। उस रूप में वे समष्टि की लीला में संयुक्त है। सब अपनेको शेषके प्रति देते हुए जी रहे हैं। अपनी निजता को सबकी समस्तता में मुक्त करने के प्रयास में ही यह विश्व की यात्रा अनन्त काल में से बढ़ी चली जा रही है। अखण्ड सत्य ही तो है जो नानात्व में प्रतिफलित है। जगत की उन नाना वस्तुओं और व्यक्तियों के मध्य परस्पर आत्मदान की यह अनिवार्यता ही सृष्टि की मंगलमय व्यवस्था है। यही धर्म है। जगत व्यापार को और किसी तरह समझना मुश्किल है।

यह जो जगत में निरन्तर सब ओर से निःशेष आत्म दान का समा-रोह सम्पन्न हो रहा है, जिसमें कोई अपने को अपने पास रोक रखने में स्वतन्त्र नहीं है, जहाँ सब अपनी अपनी नियति में जीकर और मर कर और फिर-फिर जीकर समष्टि के चिद्विकास में आत्म-योग दे रहे हैं—वहाँ दान जैसे शब्द की स्थिति ही कहाँ रह सकती है? कौन किस को क्या दे? क्या कुछ अपना है जो देने की बात की जा सके। समस्त से अलग होकर खण्ड है ही क्या? अतः किस से कोई क्या लेगा और किसे क्या देगा? सब भगवान का है। उसी में से है और उसी में लीन होने के लिए है।

लेकिन फिर भी दान की बात करनी है। आज तो वह एक समस्या भी है। समस्या इसलिए कि हम में अहंकार हैं और आसक्तियां हैं। उनके बीच में आ पड़ने से चैतन्य का प्रवाह मुक्त नहीं रहता, जगह-जगह वह रुंध और घुट जाता है। उससे क्लेश और व्याधि और युद्ध उपजते हैं। उससे आदमियों के बीच में से ही एक राजा बन उठता है, तो दूसरा रंक हो रहता है। उससे आदमी पशु तक बनता देखा जाता है कि दिन भर जुए में जुते और शाम को दाने के लिए तरसे। उससे ऐसी अमीरी उपजती है कि जिसे समय बिताने को नए-नए चस्के ईजाद करने पड़ें और दूसरी तरफ ऐसी निपट गरीबी जिससे मौत अच्छी समझी जावे। ऐसी विषम समाज में दान का प्रश्न गंभीर प्रश्न है।

गम्भीर है क्योंकि सारभूत आत्मदान हमें भूल गया है, उसकी जगह हिसाबी अर्थ दान रह गया है। मन के देने को हम नहीं गिनते। वह हिसाब में जो नहीं आता। सच पूछो तो बात वही महत्व की है। धर्म मन को देखता है, धन को नहीं। और धन बिना मन के भी दिया जाता और दिया जा सकता है। ऐसा धन बन्धन न उपजाए तो क्या करे। उससे समाज में श्रेणी भेद हो चलता है। उससे चैतन्य की हिंसा होती है। उससे मनों में राग-द्वेष उपजते हैं।

यह ध्यान में रखना चाहिए कि प्रश्न मानवीय होकर ही विचारणीय है, केवल आर्थिक और आंकिक वह नहीं है। अर्थ के विषम वितरण और स्वार्थलिप्त विनिमय के द्वारा मनुष्यता की ही जो हानि होती है वही चिन्ता की बात है। प्रश्न यही है कि कैसे सुख, शान्ति और सद्भाव फैले; आदमी और आदमी में मत्सर की जगह प्रीति और स्वार्थ की जगह सेवा पनपे। इस इष्ट की दृष्टि से ही अर्थ के दान और उसके बट-वारे का सवाल धर्मसंगत होता है।

उत्पत्ति सब श्रम से होती है। मनुष्य में कल्पना और उद्भावना है; जगत में रूप उपकरण साधन-सामग्री है। मनुष्य दोनों के योग से आवश्यकतानुसार वस्तुओं को उपजाता और बनाता है। मनुष्य की बुद्धि

ग्रौर श्रम के इस फल के विनिमय के सुभीते के लिए सिक्का जनमा। सिक्के का स्वतन्त्र मूल्य न था। पर इधर गड़बड़ हो ग्राई है। सिक्का श्रम पर निर्भर रहने के बजाय श्रम सिक्के के ताबे हो गया है। मानो श्रम नहीं सिक्का ही धन हो। चुनाचे ग्रवस्था यह है कि दुनिया में सब ग्रादमियों के लायक खाना कपड़ा ग्रौर दूसरी चीज पैदा होने ग्रौर बनने पर भी दुनिया में भूख से मरने वाले ग्रौर कपड़ों बिना ठिठुरने वाले लोग कम नहीं हैं। संस्कृति ग्रौर शिक्षा के अभाव की तो बात क्या कहिए। ग्राज की संस्कारिता तो विलास है जो मुट्ठी भर लोगों को प्राप्त है। ग्रर्थात् धन का वितरण श्रम के ग्रनुसार नहीं है, वह उस मुद्रा नीति के वश में है जो फिर स्वयं स्वार्थ-नीति के वश में है। साम्राज्य ग्रौर महा साम्राज्य बन रहे हैं ग्रौर लोग तरह-तरह के ग्रभावों से लाचार होकर उनकी फौजों ग्रौर नौकरियों में झुके जा रहे हैं। जो ग्रपरिमित साधन सामग्री पसीने के बल मानव जाति उगाती है वह कुछ हाथों में जमा होती ग्रौर वहां से वह फिर कृपा और दान के रूप म प्राप्त होता है। इस तरह दीन बनाने के बाद ही दान संभव होता है। दैन्य में ही दान का समर्थन है। यदि दीनता अच्छी नीति नहीं है तो दान को भी बढ़ावा नहीं देना होगा। दैन्य को यदि दूर करना है तो दान की संस्था को क्रमशः इतना शुद्ध करना होगा कि उसमें दयाभाव के लिए गुन्जा-यश न रह जावे। यह उत्तरोत्तर हृदय का ऐसा सहज ग्रौर ग्रनिवार्य धर्म हो ग्राये जैसे मेघ का जलदान। ग्राज तो देने वाले कृपालु हैं ग्रौर लेने वाला प्रार्थी है। दो व्यक्तियों के बीच यह दयालु ग्रौर दयनीय, मालिक और दास का सम्बन्ध कृत्रिम सम्बन्ध है। उससे मनुष्यका गौरव नहीं बढ़ता। उससे उलझन बढ़ती है ग्रौर मैल बढ़ता है। इसलिए दान को उस धरातल पर पहुँचाना होगा जहाँ देने वाले को ग्रपने को दाता मानने के दंभ से छुटकारा मिले ग्रौर लेने वाला भी ग्रपने को उस कारण निम्न ग्रनुभव करने की ग्रावश्यकता से बचे।

यह स्वाभाविक है कि धन ग्रतिरेक से ग्रभाव की ग्रोर चले। यह

अनिवार्य है। इस प्रक्रिया को बहुत काल रोका नहीं जा सकता। अब इष्ट यह है कि यह क्रिया ऐसे सम्पन्न हो कि दोनों ओर हार्दिक समता और प्रीति की संभावना बढ़े।

आज तो हमारे बीच सरकार नाम की संस्था सर्वशक्तिमान और सर्वव्यापी है। वह नोट और सिक्के छापती है। हमारे जीवन का नियमन उसके हाथ में है। धन की कुंजी उसके पास है और वितरण के साधन उसके हाथ हैं। धनवान उसी की छाया में और संरक्षण में बना जाता है। इसलिए मुख्यता से दीनता के सवाल का आरोप उस सरकार पर आता है। उसके निवारण का उपाय भी बहुत कुछ उसके हाथ है। सरकार सचमुच चाहे तो इस बारे में काफी कर सकती है। लेकिन प्रजासे अलग होकर सरकार का अस्तित्व भी क्या है? तिस पर आज कल लोक-तन्त्र का राज समझा जाता है। इसलिए लोक जीवन की भी कम ताकत नहीं माननी चाहिए। इससे लोकमत के नेता और निर्माताओं पर यह दायित्व आता है कि दान की संस्था को ऐसा शुद्ध करें कि उससे मानव में दैन्य की जगह चैतन्य बढ़े। अगर हम ऐसी समाज चाहते हैं जिसमें हर आदमी दूसरे से नफा उठाने के बजाय उसको लाभ पहुँचाने की सोचे, और ऐसी अहिंसक-समाज रचनामें अपना भाग भी लेना चाहते हैं, तो दान की, क्रय-विक्रयकी कीमत अथवा दूसरी पद्धति से जो अर्थ इधर से उधर होता रहता है, उसे खोलकर समझना होगा। उस पर निगाह रखनी होगी। निगाह वह धर्म अर्थात् सम्यग्दर्शन की होगी। वह सम्यक्-दृष्टि हमें बताएगी कि इस धन के अमुक यातायात में कितनी तो अहिंसा की सिद्धि हो रही है अथवा कितना हिंसामय शोषण हो रहा है। दृष्टि-सम्यक् हो तो श्रम ही धन है। इस दृष्टि से धन श्रमिक का है। इसलिए जो श्रमिक का है उस धनका वितरण ऐसा होना चाहिए जिसमें मुद्रा की तुलना में श्रम का और श्रमिक का महत्व बढ़े, श्रममें और श्रमिकमें स्वावलम्बिता आवे, और पर-निर्भरता दूर हो। श्रम में मजूरी के भावकी जगह स्वाधीन चेतना उत्पन्न हो और इस तरह शारीरिक उत्पादक श्रम में चैतन्य का भी

योग होनें लगे। इस प्रकार श्रम के साथ स्वाभिमान का सामंजस्य होगा, श्रमिक मनस्वी बनेगा और मानव समाज अन्तरङ्ग से स्वस्थ बनना आरम्भ होगा। अन्यथा जो धन काम करने वाले को स्वाधीन न रखकर अनुगत और परमुखापेक्षी बनाता है उससे सच्चा लाभ नहीं होता। धन का वह दान जिससे कार्यकर्ता में तेजस्विता की हानि हो, इष्ट नहीं है। दूसरे शब्दों में धन का वही दान शुभ है जो श्रद्धा पूर्वक किया जाता है। उससे कार्यकर्ता को अंतःस्फूर्ति प्राप्त होती हैं। नहीं तो जिस धन से कार्यकर्ता की आत्मा दबती हो उससे भला क्या असली लाभ मिलने की आशा हो सकती है!

ऊपर की इस सब बात में से हम निम्नांकित परिणाम प्राप्त कर सकते हैं:—

१. दान हार्दिक हो। इसमें यह अवकाश न रहेगा कि कोई अपने को दाता गिने।

२. हृदय की विवशता से दिया गया दान तात्कालिक ही हो सकता है। अर्थात् देने की भावना और देने की क्रिया में अन्तर तब नहीं हो सकता। दान की वसूली का जहाँ प्रश्न उठे वह दान ही नहीं है।

३. दिये दान को तत्काल अपने से अलग उस व्यक्ति अथवा संस्था को सौंप देना चाहिए कि जिसके प्रति देने की भावना है।

४. श्रद्धा का होकर दान शर्त के साथ नहीं होगा। भावना की स्पष्टता की जा सकती है।

५. कृपा के भाव से दिया गया दान निकृष्ट है। उसमें दोनों ओर आत्मा की हानि है।

६. दान की रक़म का यदि ट्रस्ट बनाया जाय तो उचित यह है कि देने वाला अपना नाम ट्रस्टियों में न रखे। मैनेजिङ्ग ट्रस्टी तो उसे बनना ही नहीं चाहिए।

७. दान वहाँ देना उचित है जहाँ उसका सीधा उपयोग है। अर्थात् जहाँ फिर वह रक़म ब्याज पर नहीं लगाई जाने वाली है।

८. शर्त के साथ दिया दान शंकित मन का है। उसमें से शङ्का और फैलती है। ऐसा दान श्रेष्ठ नहीं है।

९. सार्वजनिक कोषों में बड़ी रक़में दान देने वालों को अधिकारी पद पर आने से बचना चाहिए।

१०. धन श्रम का प्रतीक है। इसलिए वह श्रमिकों का अर्थात् काम करने वालों का हो—यह भावना रख कर दान देना चाहिए। आशय यह कि दी गई राशि के सञ्चालन और उपयोग का दायित्व एवम् अधिकार अधिकाधिक कार्यकर्ताओं के हाथ आता जावे।

११. देने वाले की भावना दानी के गण-स्थान से आगे सेवक के गुण-स्थान तक बढ़ने की होनी चाहिए। सेवा धर्म के लिए दान प्राप्त करने वाला सेवक और दान देने वाला दानी, इनमें सेवक का गुण स्थान ऊंचा है। दानी को उस ओर, यानी अपरिग्रहशीलता की ओर, उठने का सदा यत्न रखना चाहिए।

१२. पैसे में शक्ति है। शक्ति में मद है। मद विष ही ठहरा। उसमें स्वतन्त्रता की हानि है। सम्यग्दर्शन द्वारा यह पहचान कर धन के साथ वर्तन करना चाहिए। ऐसा सम्यक् दृष्टि धन के दान द्वारा यश, मान, प्रभुता या और तरह के लौकिक लाभ की चाहना नहीं रखेगा।

१३. धन की सच्ची संज्ञा है क्रय शक्ति। उससे चीज़ों के साथ आदमी भी खरीदे जा सकते हैं। कारण, आदमी को चीज़ें चाहिये। उन चीज़ों का अभाव या मंहगाई पैदा करके आदमियों को बिक्री के बाजार में खींच लाया जा सकता और उनका मोल भाव किया जा सकता है। पैसे की यह शक्ति दानवी शक्ति है। सच्चा दानी इस दानवी शक्ति के उपभोग में दुःख और उसके परिहार में सुख मानेगा।

१४. दान वह जो पैसे में से दानवी शक्ति खींचे और दैवी शक्ति उसमें भरे। अर्थात् देने वाला दान में प्रायश्चित्त की भावना रक्खे और माने कि जो धन उसके पास से जा रहा है वह तो उस नारायण का ही था और है, जो दरिद्र का रूप धर कर मानवता की परीक्षा ले

रहा है। यदि मैंने अब तक उस दरिद्र नारायण का ही रोकड़िया अपने को नहीं माना है तो यह बेईमानी और चोरी की है। इस भावना के द्वारा धन में दैवी शक्ति डाली जा सकती है।

१५. अहंभावना से दिया गया दान दीनता और विषमता पोसने और बढ़ाने वाला है। धर्म (अकिंचन) भावना से दिया गया दान प्रीति और सद्भाव बढ़ाएगा।

१६. मुद्रा-धन का स्रोत सरकारी शक्ति है। धर्म का स्रोत व्यक्ति की भावना है। सरकार की ओर से कानून के बल से लाई गई आर्थिक और सामाजिक समता के नीचे भाव के वैषम्य और विकार के बीज रहेंगे ही। प्रबल से प्रबल कानून बल और शस्त्र बल उस विषमता को निर्मूल नहीं कर सकता। इस तरह राजनीतिक प्रयत्न एक विप्लव के बाद दूसरे और एक युद्धके बाद दूसरे युद्ध को लाये बिना नहीं रह सकता। स्थायी संस्कार के लिये मानव मन का धार्मिक परिष्कार जरूरी है। इसका आशय यह कि सम्पन्न वर्ग स्वेच्छा से नीचे झुके और दलित वर्ग का सेवक बने। धार्मिक दान इसी इष्ट की दृष्टि से है। दूसरी तरह का दान राजनीतिक-चक्र को पुष्ट करता है और बन्धन को मज़बूत करता है।

१७. इससे जहाँ तक हो सरकार के तन्त्र को दान और उसकी व्यवस्था के बीच में न लेना ही अच्छा है। सहयोग समिति या ट्रस्टी-संघ बनाकर उसकी सुव्यवस्था की जा सकती है। इन समिति और संघों को आज दिन सरकार से रजिस्टर्ड कराने में कोई आपत्ति नहीं हैं।

१८. ध्यान रखना होगा कि अन्त में किसी भी शस्त्र बल या बाह्य बल के बिना मानव जाति को अपनी अन्तरङ्ग शान्ति और व्यवस्था कायम रखने लायक होना है। यह ध्येय अन्तर्यामी भगवान के सिवा किसी दूसरे न्यायकर्ता को बीच में लेकर काम चलाने की आदत से पूरा न होगा। अर्थात् दान की रकमों या सार्वजनिक कोषों का मुकदमा सरकारी अदालत में न होकर पञ्चायतों में आना चाहिये।

शायद इन परिणामों की अङ्क गणना जरूरत से ज्यादा होगई। बात तो मूल में एक ही है। हम में स्वरक्षा की वासना है, तो आत्मदान की भावना भी हो। मेरी श्रद्धा है कि व्यक्ति में स्वार्थ से भी गहरी परमार्थ का जड़ है। अन्यथा तो इसी जगत में, जहाँ सब अपनी दो दिन की ज़िन्दगानी से और उसके रोग-भोग से चिपटे दीखते हैं, उन महापुरुषों के चरित का क्या अर्थ है कि जो स्वेच्छा से मृत्यु को स्वीकारते हैं और जीवन को तिल-तिल होमते हैं? क्या वे हमारे ही अन्तर्भूत सत्य को हमारे ही आगे प्रगट नहीं कर जाते? नहीं तो कोई कारण न था कि उन तपोधन हुतात्माओं को हम भूल न जाते। मैं मानता हूँ कि कहीं निछावर कर डालने के लिए ही हम इस जीवन का रक्षण और पोषण करते हैं। प्रीति-प्रेरित यह आत्मार्पण ही हमारे समूचे आत्म-संग्रह की सार्थकता है। उसी भांति निःकांक्षित दान में ही समस्त अर्जन की सार्थकता है। दान नहीं तो अर्जन क्या, चोरी ही न है? अर्जन तो एक मिथ्याचार है, दान ही यत्किंचित् उसकी सत्यता प्रदान करता है। आत्म-साधक के लिए इसी से अपरिग्रह धर्म बताया है। जो जितना आत्म को पाता चलता है उतना ही वह पदार्थ से उत्तीर्ण होता और उस पदार्थ को छोड़ता चलता है। पर में से छूटे बिना स्व की उपलब्धि कहाँ? इससे जो बाह्य में दान है, वह तो भीतर में लाभ है। सच ही सम्पूर्ण आत्म-लाभ का उपाय निश्शेष आत्मदान के सिवा दूसरा और है ही क्या? सब प्रकार के दानों में इस आत्म-दान की जिस अंश में सिद्धि होती हो असल में वहाँ उतना ही सार मानना चाहिये।

: ८ :

दीन की बात

उस दिन एक तीर्थ पर देखा कि सड़क के दोनों ओर पांत के पांत भिखारी बैठे हैं। उनमें बालक हैं, बूढ़े हैं, स्त्रियां हैं। कुछ अपङ्ग हैं, ज्यादा रोगी हैं, सभी दीन हैं।

अधिक तीर्थों की यात्रा का लाभ मुझे नहीं मिला है। इससे ऐसा दृश्य सामने पाने का मेरे लिए यह पहला मौका था। उन भिखमंगों की तादाद थोड़ी नहीं थी। उस वक्त तो ऐसा मालूम हुआ जैसे उनकी गिनती का अन्त ही नहीं है। मील सवा-मील चलते चले जाइये राह के दोनों किनारे उन्हीं उनसे भरे थे।

एक बार तो उनके सामने होकर मन बैठने लगा। आगे बढ़ा नहीं जाता था। जी हुआ कि चलो लौट चलो। उन आदमियों की पुकार ऐसी थी कि बस! आदमी में कुछ आदमियत होनी चाहिए, कुछ इज्जत का भी खयाल चाहिए। पर इज्जत का खयाल या आदमियत का सवाल जैसे उन्हें छू भी न गया हो। मानो कोई काम नहीं जो आपसे पैसा पाने के लिए वे नहीं कर सकें। मनुष्यता का यह रूप सहना भला किसके लिए आसान है। मैं जानता हूँ कि यह खुद उनके लिए भी आसान नहीं है।

औरों की क्या कहूं? मैंने तो तब एक काम किया। कठोरता से अपनी आंखों को नीचा कर लिया। इधर-उधर देखूं ही क्यों, जब देखना दूभर होता है। पर पलक के ओझल करने से क्या सचाई को ओट में डाला

जा सकता है ? इससे सच पूछो तो, इस तरह मैंने अपनी मान की ही रक्षा की।

उस सङ्कट के समय सौभाग्य से मुझे अपने से एक सांत्वना प्राप्त हो सकी। वह यह कि उस वक्त मैं भी पैसे का स्वामी नहीं था। (शायद इसी कारण हो कि) तब आंख नीची करने पर एक बात अत्यन्त सत्य के रूप में मेरे भीतर स्पष्ट हो उठी। वह बात यह कि खुद पैसे वाला होना भिखारी के भिखारीपन में सहायी होना है। धनवान होना निर्धन का व्यङ्ग करना है। और कि यदि सचमुच हम दीन के प्रति प्रेम से खिचकर सेवा-सहायता करना चाहते हैं तो उसकी दिशा यही हो सकती है कि हम और वह बराबरी पर आकर मिलें। पर क्योंकि सब दीन धनिक नहीं बन सकते, यानी मैं सबको धनिक नहीं बना सकता, इससे बराबरी का एक ही मार्ग रह जाता है। वह मार्ग यह कि मैं स्वयं स्वेच्छा-पूर्वक दीन बन चलूं।

जान पड़ता है कि इस अनुभूति के सहारे मन को टिकाकर उस सड़क चले चलना उस समय मेरे बस का हो सका, नहीं तो······

लेकिन हजारों स्त्री-पुरुष भी रोज इस सड़क पर आते-जाते हैं। तभी तो जाने कहां-कहां के भिखारी यहां आ जमा हुए हैं। उन शत-सहस्र नर-नारियों के मन की हालत मैं नहीं जानता। अधिकांश उनमें तीर्थ-यात्री पुण्यार्थी होते हैं। दूर देश से कष्ट उठाकर भक्ति-भाव से भरे वे आते और कुछ अतिरिक्त कष्ट उठाकर तीर्थ-दर्शन करके फिर अपने दूर देश चले जाते हैं। इन हाथ फैलाए बैठे कङ्गालों को राह में वे दान भी करते जाते हैं। अन्न देते हैं, वस्त्र देते हैं, पाई-धेला-पैसा देते हैं। वे कोमल चित्त के लोग दया से द्रवित होकर दान-पुण्य द्वारा अपना और दीनों का, दोनों का भला करते हैं।

मुझे इस दया के विपक्ष में कुछ कहना नहीं है। जो दया कर सकता है उसे दया करनी चाहिए। लेकिन यह बात मेरे मन में जरूर उठती है कि अपने को दयावान की जगह पर पाना और इस तरह दूसरे को दय-

नीय स्थिति में डालना क्या उचित है ? क्या इससे हालत कुछ सुधरती है ? क्या यों विषमता बढ़ती ही नहीं है ? क्या इससे बखेड़ा थोड़ा भी निपटता है ? क्या इससे भिखारी से उसका भिखार-पन तनिक भी उतर कर दूर होता है ? क्या ऐसी दया अपने दायित्व से बचने का ही एक जतन नहीं है ? यह दया आत्म-विसर्जन के विरोध में आत्म-संरक्षण का ही एक ढंग नहीं है ? क्या आत्म-ग्लानि को इस बहाने हम टाल ही नहीं जाते हैं ? एक मुट्ठी नाज या उतरा कपड़ा या ताम्बे का पैसा देकर क्या अपने मान को ही दुरुस्त रखने की कोशिश हम नहीं करते हैं ?

दया ग़लत नहीं है। लेकिन विचारवान के लिए क्या वह दया काफी हो सकती है ?

पर यहाँ हम सावधान रहें। दया में कुछ देना ही होता है। चाहे स्थूल हो, या सूक्ष्म, दया में त्याग अनिवार्य है। त्याग से बचने के लिए दया से बचना पाप है। तर्क-वितर्क करके जो त्याग-रूप कर्त्तव्य से ही छुट्टी पा लेता है, मुझे इसमें सन्देह है कि वह कोई ठीक काम करता है। सन्देह है कि ऐसा तर्क-वितर्क घोरतर आत्म-प्रवंचन नहीं है ? मैं स्वीकार करूँ कि जो त्याग से बचा है, वह अवश्य प्रवंचक है।

तर्क के सहारे त्याग से बचा जा सकता है, बचा जाता है। वैसा तर्क विनाशकारी है। किन्तु देख यह भी पड़ता है कि दया-भावना भी उस त्याग धर्म से छुटकारा पाने के काम में आती है। पैसा या कपड़ा या नाज देकर जैसे हम खुद अपने को देने के धर्म से बच जाते हैं; ऐसा त्याग गहरे स्वार्थ-त्याग से हमें बचा देता है और एक तात्कालिक चैन हमें पहुँचा देता है !

सवाल होगा कि तो क्या फिर दीन की खातिर स्वयं दीन बनना होगा ? इस तरह क्या दीन की दीनता दूर हो जायगी ?

कहा जायगा कि हम खुद धनिक होकर निर्धन में जो एक डाह और द्वेष और स्पर्द्धा की भावना जगाते हैं, उससे यदि निर्धन व्यक्ति चाहे तो उसका भला ही हो सकता है। इस प्रकार उसमें अपनी हालत से

असन्तोष जागता है, बेचैनी पैदा होती है। आशा का जा सकती है कि ऐसे ही चैतन्य उसमें चेत जायगा और कर्त्तृत्व और कर्मण्यता भी प्रकट हो जायगी। जो नीचे है, गिरा हुआ है, उसके लिए खुद गिर जाना ग़लत होगा। सही यही होगा कि हम बराबर ऊँचे ही चढ़ते जाँय, जिससे कि निम्न की निम्नता उसे और भी चुभने लगे और वह भी उठने का जतन करने लगे। बराबरी हो तो ऊँचाई पर होनी चाहिए न। मैं धनाढ्य हूँ और बराबरी हुई रखी है अगर निर्धन भी मेरे जैसा बन जाय। पर अगर मैं उसे अभी बराबरी का दर्जा दूं तो क्या यह उसकी निर्धनता को उचित ही स्वीकार कर लेना न होगा? इस दृष्टि से धनिक होकर मैं अपने को झुका नहीं सकता और खुद निर्धन के हक में मुझे उसके बराबरी के दावे को नहीं सुनना चाहिए।

इस प्रकार की दलील से धनाढ्य के और अधिक धन संग्रह करने की धुन का समर्थन किया जा सकता है और निर्धनों को हिकारत की नज़र से देखा जा सकता है। तिस पर समझा जा सकता हैं कि वह हिकारत की नजर निर्धन को उन्नत होने की प्रेरणा देगी।

लेकिन मेरे चित्त को ऊपर का तर्क नहीं छूता। मुझे वह भ्रान्त मालूम होता है। उसकी जड़ में मुझे खुदी और खुदगर्जी दुबकी हुई मालूम होती है।

समता के दो प्रकार कहे जा सकते हैं। एक यह कि मैं मानूं कि मुझ से बड़ा कोई नहीं है। बड़े-से-बड़े के मैं बराबर हूँ। और जो हठात् मुझे अपने से बड़ा दीखता हो, आलोचना से टाँग पकड़ कर उसे अपने बराबर खींचने की कोशिश करूँ। यह एक प्रकार है।

दूसरा प्रकार है कि मैं अपने से छोटा किसी को न मानूं। जो अपने को छोटा मानता है, उससे इस प्रकार व्यवहार करूँ कि वह अपने छुटपन को भूल जाय। सब का मान करूँ। आलोचना करूँ तो अपनी ही, या दूसरे की तो प्रेम-वशात, और छोटे से भी छोटा अपने को मानने को तैयार रहूँ।

पहला बताता है कि मैं किसीको बड़ा न मानूं। दूसरा सुझाताहै कि मैं किसी को छोटा न समझूँ।

मेरा विश्वास है कि पहले ढंग से बराबरी नहीं बढ़ेगी, बढ़ा-बढ़ी बढ़ेगी और विषमता बढ़ेगी। और सच्ची समता यदि समाज में थोड़ी-बहुत कभी कायम भी होगी तो वह दूसरी ही पद्धित को अंगीकार करने से होगी, अन्यथा नहीं।

मैं इस चाह को गलत मानता हूँ कि मैं धनवान बनूं। मुझे कोई हक़ ऐसी इच्छा रखने का नहीं है। ऐसी तृष्णा असामाजिक है, यानी सामाजिक अपराध है। इसमें ज़रूरी तौर पर यह शामिल है कि मैं दूसरे को निर्धन देखना चाहता हूँ। धनवान होने में स्वाद तभी तक है जब तक कि पड़ोस में कोई निर्धन भी है। अगर मुझे उस स्वाद का लोभ हैं, वह रस मुझे अच्छा लगता है, तो यह बात झूठ है कि मुझे दीन की दीनता बुरी लगती है। दीन के दैन्य में मुझे जब तक अन्दरूनी तृप्ति है, तभी तक स्वयं धनवान होने की तृष्णा मुझमें हो सकती है। मैं मानता हूँ कि वैसी तृष्णा में अहंकार का सेवन है। और अहंकार को चैन तभी मिलता है जब दूसरा अपने से नीचा मालूम होता है।

व्यवहार में देखें कि धनवान का क्या अर्थ होता है। चारों ओर झौंपड़ियाँ हों और उनके बीच मेरा मकान पक्की ईंटों का बना हो तो मैं अपने को धनवान लगूँगा। मुझे उस मकान का मालिक होने पर गर्व होगा। वही मकान यदि शहर में है, जिसके आस-पास आलीशान हवेलियाँ हैं, तो वही मुझे अपनी दीनता का प्रमाण मालूम होगा और मैं उस पर लज्जित दीखूँगा। इससे धनवान होने की इच्छा में ही गर्भित है कि कोई दीन भा हो। हम धनवान होना चाहते हैं, यानी हम दीन को दीनतर बना देना चाहते हैं।

इसलिए जो नीति तुम्हें और हमें सांसारिक सम्पन्नता के रास्ते पर आगे-से-आगे बढ़ने की ओर उकसाती है, वह नीति ग़रीबों के हक़ की नहीं है। वह उनका भला नहीं चाहती। सच पूछा जाय तो उस नीति

के पेट में नीयत स्वार्थ की है। उस नीयत का मुँह बाहर न दीखता हो, पेट में छिपी उसकी जड़ है ज़रूर।

उसके विरोध में जो नीति सब के भले का दावा करना चाहती हैं; खास तौर से ग़रीबों का, यानी हर देश और हर काल के बहुसंख्यक वर्ग का, भला करना चाहती है वह दुनिया की तृष्णा और संचय के लोभ पर खड़ी नहीं हो सकती। सार्वजनिक हितकर्म की नीति धन नहीं, मन चाहेगी। वह अमीर बनने को बड़ा बनना नहीं मान सकती। वह पैसे पर आश्रित सम्बन्धों को बढ़ावा नहीं दे सकती।

अगर समाज एक है तो दीन की दीनता के दोष से हम अपने को अछूता नहीं मान सकते। अगर दीनता के कारण उस आदमी में मनुष्यता तक नहीं रह गई है,वह जानवर और अपराधी बनता जा रहा है,तो याद रखना चाहिए कि हम अपनी अमीरी निष्क्रियता से उसमें मदद दे रहे हैं। अपनी आराम-देह स्थिति से चिपट कर हम उसकी तकलीफ को कायम बना रहे हैं। उसका मनुष्यता पर से विश्वास उठता जा रहा है तो क्या इसलिए नहीं कि हम लोग उसका विश्वास करने को तैयार नहीं होते? समाज-मान्य हम लोग उससे बन्धु-भाव से व्यवहार करने को तैयार नहीं हैं तो वह क्यों न समाजद्रोही हो। क्या हम उसे इस प्रकार लाचार ही नहीं करते कि वह मानवता का द्वेषी बन आये?

आशय यह नहीं कि व्यक्ति के दुःख का दोष मैं व्यक्ति पर से टाल कर एकदम समाज पर डाल देना चाहता हूं। व्यक्ति अपने दुख के सम्बन्ध में निर्दोष तो हो ही नहीं सकता। कर्म-फल का सिद्धान्त अटल है और वह सर्वथा वैज्ञानिक है। पर वह बात व्यक्ति पर समाप्त होकर क्या चुक जाती है? व्यक्ति का दुःख समाज के लिए घुन है। इसलिए दुखी व्यक्ति के दुःख का सवाल हमारा, तुम्हारा यानी उन लोगों का सवाल भी है, बल्कि उनका प्रमुखता से है, जो अपेक्षाकृत समाज में सुख-चैन से हैं।

दीन की बात करते समय हमको याद रखना चाहिए कि वह द्रव्य का अभाव नहीं है जो उसको और हमको कष्ट देता है। इस हेतु से जो उसमें धीमे-धीमे मनुष्यता का ही अभाव होने लगता है, वही सोच और ग्लानि और परिताप का कारण बनता है। सब काल और सब देशों में ऐसे पुरुष हो गये हैं जिन्होंने पास धन नहीं लिया पर जो उसी कारण महामान्य समझे गये। अतः गरीबों की गरीबी का सवाल एकदम आर्थिक है यह नहीं मानना चाहिए। सिर्फ धन का न होना दरिद्र का लक्षण नहीं है। उसका सहारा लेकर जो बेबसी और ओछाई की भावना आदमी में समा जाती है, असली रोग तो वह है। और इस लिहाज से दारिद्रय का प्रश्न नैतिक प्रश्न है। बेशक पहली आवश्यकता है कि उसको खाने को अनाज मिले, पहनने को कपड़ा। लेकिन सीधा दान में नाज-कपड़ा देकर क्या उसमें मानवोचित आत्म-सन्मान पैदा होने की सम्भावना को हम बढ़ाते हैं? वह आत्म-सम्मान अर्थदान से उसमें पैदा न होगा। वह तो आत्मदान से ही उसमें जागेगा। हर हालत में जब हम उसकी इन्सान की हैसियत मानने को तैयार होंगे, उसके साथ उसी इज्जत से पेश आवेंगे, तभी वह अपने को इन्सान समझेगा, और बनना शुरू करेगा। उससे पहले भीख में और दान में बहुतसा माल पाकर भी वह समाज के लिए खतरा और दूषण ही बना रहेगा।

तो बुनियाद में समस्या यदि नैतिक है तो उसका सुलझाव नीति-धन से होगा, स्थूल-धन से नहीं हो सकेगा। नीति का धन क्या? वह धन है प्रीति की वेदना। वैसी शुद्ध नैतिक भावना, यानी वेदना, को साथ लेकर ही उस समस्या के समाधान की ओर बढ़ा जा सकेगा। नहीं तो जो तबियत धन की कमती-बढ़ती से आदमी-आदमी में भेद करती है, जो निर्धन को नीच और धनवान को उसी कारण ऊँच गिनने की आदी है, उस तबियत के साथ दीन दुखी के सवाल को छूना भी उचित नहीं है। उससे उलझन और बढ़कर रह जायगी। उससे विषमता कुछ उभरेगी ही। समस्या को खोलने के अधिकार के लिए वह मनोवृत्ति चाहिए जो

धन से इन्सान को नहीं तौलती और जो अपने से निम्न किसी को मानने को तैयार नहीं है। समस्या हल होगी तो उस मन के धनी द्वारा जो दरिद्र में दरिद्रनारायण की कल्पना कर सकता है, जो दरिद्र की सेवा प्रायश्चित्त और आत्मशुद्धि के रूप में करने को विवश है। जो वैसी सेवा को उपकार या अहसान गिनता है, वह कृपया अपने उपकार को लेकर दूर ही रहे। उसके प्रति दीन की भावनायें यदि भीतर से देखी जांय तो जान पड़ेगा कि वे कृतज्ञता या आभार की नहीं हैं, पर बहुत-कुछ गुस्से की हैं। मानो लिहाज से रुका न रह जाय तो वह कह ही बैठे कि 'तुम हो कौन उपकार का दम भरने वाले! सब तरह का कुकर्म करके पहले तो घर भर बैठे हो, अब उनमें से दो पैसे दिखाकर धर्म करने चले हो! यह पैसा तुम्हारा हुआ कैसे? दूसरों को सुखा और सताकर तुमने यह कमाया है। इसी पर अहसान तुम्हारा मानें और हम जो मेहनत करते हैं? जाओ, बस अपनी सूरत दूर ले जाओ। नहीं तो........'

मुझे बहुत सन्देह है कि अगर हार्दिक स्नेह से नहीं बल्कि थोड़ी-भी कृपा-भावना के साथ हम गरीब के दुःख को छूने चले हैं, फिर कितना ही प्रोग्राम (कार्यक्रम) हमारा उस दुःख को दूर करने का हो, हम उसमें वही उद्धत आवेश की मनोदशा उत्पन्न करने के निमित्त होंगे। इस तरह की कृपा-भावना अनैतिक है। सच्ची नाति की ताकीद तो यह है कि हम अपने को दीन का भी बन्दा और सेवक मानें। मानें ही नहीं बल्कि सच्चे मन से वैसा बनने का उद्योग करें। दरिद्र की सेवा का अवसर पाकर हम अपने ऊपर उसका उपकार मानने को तैयार हों। दारिद्र्य मिटाना हमें अपने ही मन का दोष मिटानें जैसा मालूम हो। अगर यह मनोवृत्ति नहीं है तो मैं कहता हूं कि दीन की दशा में कोई सुधार नहीं किया जा सकता है। दीनावासों,अनाथालयों और अन्न-क्षेत्रों से हानि बची नहीं है बढ़ी ही है। सवाल को आर्थिक और सिर्फ आर्थिक समझे जाने को ही सुधारना होगा। रूप उसका आर्थिक हो,पर मूल में अर्थ पहुंच गया है

तो अनर्थ है। मूल में तो हार्दिक वेदना ही हो सकता है। वेदना यानी विसर्जन और त्याग। और जहां मूल में वह नहीं है, वहां तमाम आर्थिक योजनाएं विफल हैं। विफल ही नहीं, बल्कि वे दुष्फल आगे ला सकती हैं। यह बात आजकल इसलिए भी कहना आवश्यक होगया है कि विज्ञान के नाम पर अर्थ को मूलाधार माना जाने लगा है और विचार मात्र को आर्थिक चाहा जाता है। लोग हैं जो आदमी की कुंजी अर्थ में देखते हैं। वे विश्वास दिलाना चाहते हैं कि जो कुछ होता है, अर्थ-प्रयोजन को सामने लेकर होता है। कि स्वार्थ ही मनुष्य की प्रेरणा है। लेकिन वे नहीं जानते, वे सही नहीं हैं। अगर यही सही होता तो सब सवाल समाप्त थे। तब किसी को किसी से क्यों गरज होती। लेकिन ऐसा न हो सकेगा। एक का सबसे नाता है और अगर दूसरे का दुःख उसे नहीं छूता तो वह आदमी नहीं है, जड़ है। मैं जड़ नहीं हूं, अगर इसका प्रमाण है तो यही कि मैं दूसरे के दुख में दुखी हो सकता हूं, मुझमें संवेदन है। और अगर यह सच है तो मनुष्य वह सच्चा और वह ऊंचा और वह श्रेष्ठ है जो अधिक-से-अधिक दुख को अपना सकता है यानी उसके लिए अपना अधिक-से-अधिक उत्सर्ग कर सकता है, जो निरन्तर सबके लिए होम होता रहता है।

मुझे दीखता है कि उसी ओर चलना सच्चा उपाय है। नहीं तो दुःख के सवाल की कोई और पकड़ नहीं है।

: ९ :

सीमित स्वधर्म और असीम आदर्श

आज मैं कुछ बे-स्वाद बात आपको कहना चाहता हूँ। स्वाद भोग में होता है। धर्म में त्याग होता है। धर्म की बात गर्म नहीं होनी चाहिए। गर्मागर्मी अच्छी लगा करती है। कहा है "धर्मस्य तत्वं निहितं गुहायाम्"। वह गुफा है हृदय। हृदय की रीति उलटी है। ठंडी-धीमी बात वहाँ पहुँच जाती है। गर्म-तेज बात रास्ते में इन्द्रिय-विषयों को चहका कर उस चक्कर में रह जाती है। उत्तेजना उससे होती है कि फिर थकान-सी भी हो आती है। भोग के स्वाद में यही तो है–आगे रस, पीछे विष। पर धर्म यदि सामने से रूखा है तो फल उसका ही मीठा होता है। आज पर्यूषण के दिन ज़ोर की वाणी और प्रखर तर्क से आपकी चित्त-वृति को मैं मथ डालना नहीं चाहता। वह मेरा वश भी नहीं है। देखते ही हैं आप कि मैं कैसा निर्बल हूँ। कोई आग-सी लहक आप में जाग उठे, ऐसा काम मैं नहीं करूँगा। आग चाहिए, पर ठंडी आग चाहिए। आध्यात्मिक सुलग वही है। भीतर सच्ची जिज्ञासा जगी कि फिर बुझती नहीं। पर उसमें दूसरा कोई नहीं जलता है; हमारे विकार ही जलते हैं। अभी उस दिन दाद की बीमारी के बारे में पढ़ रहा था। दाद को जितना खुजाओ उतना मजा आता है। असल में उसके छोटे-छोटे कीड़े बदन पर फैले होते हैं। खूब खुजा कर अपना लहू हम उन्हें पिलाते हैं। उस मज़े का मतलब उन कीड़ों का मज़ा है। अपना खून उन्हें पिलाते और रस मानते हैं। आपस के विवाद और वितंडा से जो मज़ा अक्सर

आया करता है, वह भी इसी किस्म का है। उसमें हम अपना खून पीते और मज़ा मानते हैं।

आज के परचे में आपने देखा कि मेरा विषय है 'सीमित स्वधर्म और असीम आदर्श'। विषय वह क्लिष्ट मालूम होता है। उसका दोषी मैं हूँ। मैंने ही वह विषय दिया। पर सुनने में वह क्लिष्ट हो, आप देखेंगे कि हमारे और आपके वह नित्य-प्रति के काम का है। दूर की पहुँच मेरी नहीं है। मेरा दुर्भाग्य कि मैं विद्वान नहीं हूँ। पर आज तो मैं उसे सद्भाग्य मानता हूँ। गीता की अहिंसा में और महावीर की अहिंसा में और बुद्ध की अहिंसा में और गाँधी की अहिंसा में क्या तार-तम्य और क्या उनमें सूक्ष्म भेद है? यह विषय मुझ जैसे अबोध की पात्रता से बाहर है। यह मेरा सौभाग्य नहीं तो क्या है? नहीं तो इस सूक्ष्म-चर्चा में गिर कर मुझे क्या कभी उसका किनारा मिलता? इससे मैं कृतज्ञ हूँ कि जितनी बुद्धि मुझे मिली है उससे आगे बढ़ने की तबियत होने का सामान मुझे नहीं मिला है। अपने से दूर जाकर मैं कुछ नहीं पकड़ पाता। जिसकी प्रतिध्वनि मेरे भीतर नहीं है, ऐसा कुछ तत्व हो तो उसकी उधेड़-बुन में मैं किस आधार पर पड़ जाऊँ?

विषय के दो हिस्से हैं। पहला है, सीमित स्वधर्म अर्थात् हमारा स्वधर्म सीमित है। उस सीमा को हमें समझना और स्वीकार करना चाहिए और उससे झगड़ना नहीं चाहिए।

अपने सीमित होने की बात पर ज्यादा समय क्या लिया जाय? हममें से हर एक साढ़े-तीन हाथ का है। उससे आगे उसकी हस्ती नहीं। हर काम और हर बात में अपने सीमित होने का हमें पता चलता रहता है। देह साढ़े-तीन हाथ और उम्र समझ लीजिये साठ-सौ साल। इस तरह क्षेत्र और काल की मर्यादा के भीतर हमारा अस्तित्व है। इन मर्यादाओं के भीतर ही हम पर कुछ कर्त्तव्य लागू होते हैं। वे कर्त्तव्य ही हमारा स्वधर्म है।

यह बात साफ है। पर धुँधली भी हो जाती है। कारण कि हमारे

भीतर मन है और बुद्धि है और इच्छाएँ हैं । मन भाग कर दुनिया में दौड़ता है, बुद्धि आसमान को नापती है और इच्छाएँ जाने क्या-क्या अपनी मुट्ठी में कर लेना चाहती हैं । अपने ही इन तत्वों के कारण हम अपनी ससीमता को चुपचाप नहीं झेल पाते । हमारी जो हदें हैं उन पर पहुँच कर हमारे मन-बुद्धि सदा ही टकराया करते हैं और उन सीमाओं की अवज्ञा करके स्वच्छन्द विचरना चाहते हैं ।

जैसे सपने की ही बात लीजिए । आप रोग में खटिया से लगे पड़े हैं, पर सपने ऐसे उड़ते हैं, ऐसे उड़ते हैं, जैसे आपके लिए कोई रोक ही नहीं । बादल पर सवारी करते हैं,सारी दुनियाँ को अपने मन के अनुरूप शकल दे सकते हैं । दिन के काम में आप बँधे हुए हैं । पर रात के सपने में एकदम खुल जाते हैं ।

मैं उन आदमियों में नहीं हूँ जो सपने को सपना कह कर उड़ा देते हैं । मैं तो वहम को भी मानता हूँ । इसी तरह सपना दिन की धूप में सपना हो, पर रात में आँख मिचने पर वही सच होता है । हमारे सपने पर हमारी ही सीमा नहीं रहती है । और मैं यह भी आपको कहना चाहता हूँ कि सपना न होता तो हम जग भी न सकते । अनिद्रा नाम का जो रोग है, वह नहीं तो रोग ही फिर क्यों होता ? दो रोज न सोइये, फिर देखिये क्या हालत होती है । सपने के कारण हममें सन्तुलन आता और जीना सम्भव होता है ।

पर एक बार की बात है कि रात को मेरी बहन एकाएक चीख़ पड़ी । एसी कातर चीख़ थी कि क्या बताऊँ । पर देखा तो वह सो रही थी । थोड़ी देर में फिर चीख़ हुई । अबके वह उठ पड़ी थी । माथे पर पसीना था, थरथर काँप रही थी । मैंने पूछा, "क्या है ?" बोली, "कुछ नहीं ।" यह "कुछ नहीं" उसने झूठ नहीं कहा था, पर उसे सचमुच मालूम नहीं था कि क्या है । और वह यही जानती थी कि जो है, वह 'कुछ नहीं' है । इसलिए यह जो 'कुछ नहीं' नाम की वस्तु है, जिसका दूसरा नाम है स्वप्न, वह एक दम असत्य नहीं है । उसमें से चीख़ निकल सकी,

उससे बदन पर पसीना और थरथराहट आ सकी।

यह बात मैंने आपको यह बतलाने के लिए कही कि हमारी सीमा और हमारे ही अन्दर के असीम में जब बेहद झगड़ा पैदा हो जाता है, यानी तीव्र संघर्ष मच जाता है, तब उसका अनिष्ट परिणाम होता है। हम सीमित हैं, हमारा आदर्श असीम है। उन दोनों सीम और असीम के तनाव (Tension) में से जीवन का प्रादुर्भाव हुआ है। वही हम सचेतन प्राणियों की परिभाषा है। ससीम से असीम की ओर गति उस जीवन का विकास है। और उनमें विग्रह हमारा क्लेश और हमारी तकलीफ है।

यहाँ पर एक बात बहुत अच्छी तरह समझ लेने की है। वह यह कि अपनी सीमाओं से नाराज होकर उन्हें हठात् इन्कार करके हम उन्हें अपनी जकड़ बनाते हैं। और अगर हम उन सीमाओं को आगे बढ़ाना चाहते हैं, यानी अपना विकास करना चाहते हैं, तो वह पुरुषार्थ एक बार उन सीमाओं के स्वीकार के आधार पर होगा, इन्कार की स्पर्द्धा में नहीं।

इसको साफ करने की जरूरत है। उदाहरण के लिए, एक बालक को लीजिये। वह सत्रह-अठारह वर्ष का हो गया है। पढ़ने में बहुत तेज है—एफ़. ए. पास कर गया है। खूब ऊँचा साहित्य उसने बाँचा है। नतीजा यह कि खूब ऊँचे ख़्याल उसके हो गये हैं। उसका घर गाँव में है, पर वह यह मानता है कि विश्व को अपना घर समझना चाहिए। उसके माता-पिता वैष्णव या जैन या मुसलमान हैं। लेकिन पढ़-पढ़ कर उसने जाना है कि सच्चा धर्म तो स्वतंत्र है और मेरे माता-पिता संकीर्णता में पड़े हुए हैं।

अब कल्पना में लाइये कि इस बालक का परिस्थति के साथ कैसे मेल बैठेगा ? क्या वह जो बालक सोचता है, ग़लत है ? ग़लत तो नहीं है। पर अगर उसके सही होने के जोश में घर में पांव रखते ही वह बालक माँ-बाप के उद्धार की चेष्टा करने लगता है; कहता है कि तुम

वहम में पड़े हो, और मैं इस घर में खाना खाने को भी तैयार नहीं हूँ। अगर वह ऐसा आचरण करता है, तो आप क्या कहेंगे ? उसे विद्वान कहेंगे या मूर्ख कहेंगे ? विद्वत्ता तो उसकी सच्ची है, पर अपने स्वधर्म की मर्यादा जो वह भूल बैठा है, इससे वह सारी विद्वत्ता ही उसकी मूर्खता हो जाती है।

बालक का उदाहरण हमारी और आपकी स्थितियों पर भी एक-न-एक प्रकार से लागू है। मान लीजिये, मैं जैन-कुल में उत्पन्न हूँ। पर जैनेतर को अपना भाई मानना चाहता हूँ। जैन-सम्प्रदाय की सीमा के बाहर असत्य-ही-असत्य है, यह नहीं मानना चाहता। ऐसा जैनत्व, जो जैन से बाहर प्रेम के नाते को ग़लत ठहराये, मेरी तबियत नहीं स्वीकार करती। मैं यह नहीं मानना चाहता कि असहानुभूति या अपमान या अनादर किसी के प्रति भी भला हो सकता है। तब मैं क्या करूँ ? क्या ऊँची गर्दन करके यह कहूँ कि मैं जैन नहीं हूँ, मानव-धर्मी हूँ; और तुम जैन धर्मी हो तो भूल में हो ? मैं मानता हूँ कि मेरा ऐसा आचरण अहंकार का आचरण होगा। जैन धर्म अथवा कि कोई धर्म क्या अमानव होने को कहता है। ? अगर नहीं, तो जैन धर्मावलम्बी होकर व्यक्ति के सच्चा मनुष्य बनने में क्या बाधा है ? इसलिए जिसको परम्परा से जैन धर्म प्राप्त हो गया है, वह सच्चा जैन बनने के द्वारा ही साधारणतया सच्चा आदमी बन सकता है। सच्चा आदमी बनने के लिए उसे अपने जन्म अथवा जीवन की स्थिति को इन्कार करना पड़ेगा इसकी मुझको कोई ज़रूरत नहीं मालूम पड़ती।

छुटपन में कहानी पढ़ी थी कि चन्दा देखकर रामजी मचल गये। रोवें सो रोवें। मान कर ही न रहें। यह तो ख़ैर थी कि इतने छोटे थे कि चन्दा देखकर हाथ लपकाते थे, पैर अपनी जगह छोड़कर बहुत उछल नहीं सकते थे। अपनी ज़मीन छोड़कर चंदा राजा की तरफ़ उलाँच भरने जितनी कहीं बदन में शक्ति होती, और मां पास न होतीं, तो रामजी गिरगिरा कर अपना सिर ही फोड़ लेते। पर ग़नीमत कि उनमें इतनी

ताक़त न थी और मां भी पास थीं। आखिर मां ने क्या किया कि थाली में पानी भरकर उस चन्दा राजा को आसमान से नीचे थाली के बीच में उतार लिया। राम जी उससे मगन हो गए, और सो गये।

हम सब पर माताएं तो रह नहीं गई हैं। मेरी मां तो मुझे छोड़ही गई हैं। उनके अभाव में, यह समझ कर कि हम बड़े हैं, क्या चांद पर हमें मचलना चाहिए ? और इस बचपन के खेल के लिए क्या औरों को भी उकसाना चाहिए ? आसमान के चाँद को या तो धीर-भाव से हममें देखने की शक्ति हो, या अपने भीतर अवस में लेकर उसे हम बिठा सकें। और इस तरह जिस धरती पर हम खड़े हैं उस पर से अपने पैर उखड़ने न दें। यही तो एक रास्ता है। नहीं तो अधर में उड़कर चांद तो हम पायेंगे नहीं, जहां हैं वहां से भी गिर पड़ेंगे।

यह सब बात कहना और बच्चों के उदाहरण देना अप्रासंगिक न माना जाय। कदम-कदम पर स्थिति भंग का खतरा हमारे लिये है। मैं बालक हूं ही, पर दुनिया में कुछ हैं जो अक्षर पढ़कर साक्षर बने हैं। उन मे उत्साह है, कल्पना है। वे लम्बी दौड़ दौड़ते और ऊँची फाँद लगाते हैं। वे यह तक क्यों मानें कि वे कम हैं ? उन्हें अपने खेल में आनंद है। गिरते हैं तो उन्हें हक है कि उसमें से वे सबक़ न लें बल्कि खेल का और मज़ा लें। वे उस आनंद की अतिशयता को झेल नहीं सकते, इससे हम तुमको भी वह आनंद देना चाहते हैं। अब हम क्या करें ? हमारे पास मां है, या कोई हमें मां तुल्य है, या कोई बापू है, तब तो ठीक है। धर्म सकट में हम वहीं पहुँच जायंगे। पर यदि हम कुछ बड़े होगये हैं और मां हमसे छिन गई है, और किन्हीं को बापू बना लेने जितनी विनय या सुविधा हमें नहीं है, तो उपाय होगा कि स्वधर्म को हम अपने पकड़े रहें और उसकी गोद न छोड़ें।

हमारे लिए स्वधर्म हमारी मर्यादा है। मानों समूचा धर्म हमारे लिए वह है। हमारी स्थिति की सीमाएँ हैं। हम बालक हैं या युवा हैं; या अपने परिवार में बड़े हैं या नगर-मान्य हैं, या समाज-रक्षण की कुछ

ज़िम्मेदारियां हम पर हैं, अथवा राष्ट्र नेता हैं या कि लोकनायक हैं--इन सब हालतों मे हमारा स्वधर्म सीमित है। अलग-अलग हालतों में सीमाएँ भी अलग हैं। बालक पर लोकनायक का कर्त्तव्य नहीं आता है। पर उन-उन स्थितियों में उन्हीं सीमित स्वधर्मों के पालन में हमारा मोक्ष है। जो व्यक्तिगत कर्त्तव्य का पालन नहीं करता है, वह पारिवारिक ज़िम्मेदारी निबाहने के योग्य नहीं बनता। और जो छोटे क्षेत्र के कर्त्तव्य का समुचित पालन कर दिखाता है, उसी पर बड़े क्षेत्र के दायित्व का भार आता है। विकास और मुक्ति का यही रास्ता है। व्यक्तिगत कर्त्तव्य की उपेक्षा करके सार्वजनिक, सामाजिक या राष्ट्रीय नेतृत्व अथवा बड़प्पन अपनाने की कोशिश निष्फल और अनुचित है। इससे धर्म-संकरता उपस्थित होती है। निजी जीवन और सार्वजनिक जीवन दोनों उससे क्षुब्ध होते हैं।

स्वधर्म शब्द में ही यह आता है कि वह सब के लिए भिन्न है। अर्थात् दूसरे का स्वधर्म मेरे लिए पर-धर्म है।

अब प्रश्न है कि परधर्म के प्रति मेरा क्या व्यवहार हो? "स्वधर्मे निधनम् श्रेयः परधर्मोः भयावहः।" अर्थात्, स्वधर्म न छोड़ना और पर धर्म न ओढ़ना। परधर्म पर का धर्म है। मेरा वह नहीं है। पर धर्म मानकर भी मुझे उसके प्रति कैसा व्यवहार करना चाहिए—यह प्रश्न बना ही रहता है।

इस प्रश्न के हल के लिए हमारा दूसरा अंश काम देगा। वह यह कि आदर्श असीम है। सत्य मेरी मुट्ठी में नहीं है। उस पर मेरा स्वत्वाधिकार नहीं है। आदर्श में खंड नहीं हो सकते। इससे आदर्श सत्य है। सत्य में हम-तुम सब समाये हैं। सब धर्म उसमें अभिन्न हैं। सब जीव उसमें एक हैं। असल में तो सभी तरह का द्वैत उसमें लीन है। वह अखण्ड है, अविभाज्य है। उसीको कहो परमात्मा, या ब्रह्म, या कुछ भी। हम अपना पृथकता में जीवात्मा हैं, अपनी एकता में परमात्मा।

उस एक की झाँकियां अनेक हैं। जो जहाँ है वहाँ से वह उसे अपने

ही रूप में देखता है। उनमें कोई झाँकी ग़लत नहीं है। वे एक-दूसरे की पूरक हैं। वे एक-दूसरे से भिन्न हैं, पर अपनी-अपनी जगह एक-सी ही सही हैं। कोई अपनी झाँकी का चित्र उजला दे; दूसरा धुँधला। वह तो चित्र-दाताओं पर है। कोई उसे अपने जीवन में एक रूप में प्रतिफलित करे; दूसरा दूसरे रूप में घटित करे—वह तो उनकी परिस्थिति और क्षमता पर अवलम्बित है। पर दोनों स्थानों पर जितनी ऐक्यानुभव और ऐक्य-प्रभाव की तीव्रता है उतनी ही सत्यता है। रूप और आकार पर कुछ मौकूफ़ नहीं है, असलियत तो आत्मा है।

इस ऊपर के सूत्र से परिणाम निकला कि स्वधर्म मेरे लिए सब कुछ हो, पर उसी भाँति परधर्म पर के लिए सब कुछ है। अर्थात् मुझे जितना स्वधर्म प्यारा होना चाहिए, मेरी कोशिश होनी चाहिए कि दूसरे का स्वधर्म उसे उतना ही प्यारा बने। स्वधर्म का आरोप नहीं किया जा सकता। स्वधर्म का आरोप एक तरह से पर-धर्म का स्वीकार ही है। किन्तु स्वधर्म में निधन अच्छा, पर धर्म का स्वीकार कदापि इष्ट नहीं। और जब हम अपना धर्म किसी से मनवाना चाहते हैं तो उसका मतलब होता है कि उस पर परधर्म लादना चाहते हैं। यह तो हिंसा है।

मैं इसी ढंग से हिंसा-अहिंसा को देखता हूँ। अपने स्वधर्म पर मैं मर सकता हूँ। अपने भीतर अनुभूत सत्य पर आग्रही रहकर मुझे मौत आती हो, हर्ष से मुझे उसे भेंटना चाहिए। अब अहिंसा की पहचान यह है कि दूसरे के स्वधर्म की रक्षा के निमित्त वैसा ही मैं त्याग कर सकूँ। मुसलमान के इस्लाम के लिए, अर्थात् मुसलमानों को हिन्दू बनाने नहीं बल्कि मुसलमान को सच्चा मुसलमान बने रहने में मदद देने के लिए, अपना सब कुछ होमने की लगन मुझमें जितनी हो उतनी ही अहिंसा माननी चाहिए।

व्यवहार के लिए इस पर से यह नियम निकलता है कि यदि मैं गो-भक्त हिन्दू हूं, पर एक मेरा भाई मुसलमान अपना धर्म मानकर गो-

कशी करता है, तो या तो मैं प्रेम भाव से उस भाई का हृदय जीतूँ या मुझमें सचमुच इतनी करुणा हो कि गाय की रक्षा के लिए अपनी गर्दन मुसलमान भाई को दे दूँ। पर थोड़ी देर के लिए समझिये कि एक मेरे जैसा गो-भक्त हिन्दू गो-वध की बात पर उत्तेजित होकर उस मुसलमान भाई को मारने चलता है। तो यह बिलकुल उचित होगा कि मैं उस भूले गो-भक्त की राह में बाधा बन जाऊँ और अपने जीते जी उस मुसलमान भाई को कुरबानी में बलात् विघ्न न पड़ने दूँ।

दूसरे के धर्म के लिए आदर-भाव सच्चा तभी उत्पन्न होगा जब स्वधर्म पर आरूढ़ रहने की हममें निष्ठा हो। यह मेरी पक्की प्रतीति है। जिसमें स्वधर्म-निष्ठा नहीं है; दूसरे के स्वधर्म के प्रति त्याग की शक्ति भी उसमें नहीं होती है।

अर्थात् अपना धर्म छोड़कर सब धर्मों को एक बनाने का कोशिश बेकार कोशिश है। धर्मों की एकता तो परमधर्म में अब भी है ही। फिर जो उस में स्थिति, काल और परम्परा की दृष्टि से बाहरी अनेकता दीखती है उसे मिटाने का आग्रह क्यों? मनका ऐक्य शरीर की पृथकता पर और भी सच्चा बनता है। जब प्रेम दो शरीरों को मिलाता है, तब वह मोह कहलाता है। भोग में दो शरीर अपनी पृथकता सहन न करने के कारण मिलते हैं। इसी से भोग का फल ऐक्य नहीं, अनैक्य होता है। प्रेमी-प्रेमिका का विवाह हुआ कि थोड़े दिनों बाद उनका प्रेम उड़ जाता है। मैंने तो सौ फी सदी यह बात देखी है। क्यों ऐसा होता है? इसका कारण यह कि प्रेम मन की एकता चाहता है, पर वे शरीर की एकता के प्यासे हुए। इसलिए प्रेम मोह बना, मोह से काम आया। और फिर तो देखा गया उसकी पूंछ में घृणा आ गई है, प्रेम उड़ गया है।

आज मैं इस बात को बहुत जोर से कहना चाहता हूं। क्योंकि लोग हैं जो धर्म-हीनता की जमीन पर सब धर्मों का मेल करना चाहते हैं। वे भले आदमी हैं। उनका अभिप्राय शुभ है। पर उनको समझना चाहिए कि जो ऊपरी अनेकता को खण्डन करना चाहती है, वह सच्ची

एकता नहीं है। दो व्यक्ति अपना शरीर एक-दूसरे से पवित्र रखकर ही सच्चे तौर पर परस्पर की आध्यात्मिक अभिन्नता पा सकते हैं। शरीर स्पर्श का सुख जिस ऐक्यानुभव के लिए जरूरी है, उसमें अवश्य जड़ता और मोह का अंश है।

बहुत लोग हैं जो बहुत ऊंचे उठ गये हैं। यानी वे नामधारी सब सम्प्रदायों, जातियों, धर्मों और हद-बंदियों से पार हो गये हैं। वह विश्व की एकता में रहते हैं। विश्व से कम किसी के साथ वह अपना नाता नहीं मानते। ऐसे लोग पूज्य हों, पर ऐसे लोग विश्व की सच्ची एकता को सम्पन्न नहीं कर सकते हैं। जो स्वयम् नहीं है, वह सब-कुछ कैसे हो सकता है? शरीर से कोई विश्व में कैसे रह लेगा? रहेगा तो एक कमरे में ही। इसी तरह सब भाषाएं कैसे बोल लेगा? बोलेगा तो एक समय एक भाषा ही। अर्थात् अपने प्रत्येक शरीर-व्यापार द्वारा व्यक्ति सीमित तो रहेगा ही। उस सीमा की स्वीकृति पर लज्जा क्या? बल्कि उस सीमा की स्वीकृति के साथ ही आत्मिक असीमता उपलब्ध करने का साधन हो सकता है।

स्वधर्म के सीमित और आदर्श के असीम होने के कारण हमको एक परम-धर्म प्राप्त होता है। वह है अहिंसा। मेरा अपना धर्म सीमित है, यह मुझे क्षण के लिए भी न भूलना चाहिए। अर्थात् किसी दूसरे पर उसका बोझ, उसकी चोट या उसका आरोप मैं नहीं डाल सकता। यह अहिंसा का तकाज़ा है कि मैं ऐसा न करूं। दूसरे के लिए उसका स्वधर्म ही श्रेष्ठ है। उसको उसी में निष्ठित रखना मेरा कर्तव्य है। इसका आशय है कि वाक्-शक्ति, प्रचार-शक्ति अथवा किन्हीं भी और साधनों से विशेषण-युक्त किसी धर्म का प्रचार करने का आग्रह नहीं रखना चाहिए। सच्चा धार्मिक ऐसे आग्रह से शून्य होगा। किसी की श्रद्धा विचलित करना उचित नहीं है। हम कैसे जानते हैं कि हम जो जानते हैं वही ज्ञान की परिसीमा है? अगर परिसीमा नहीं है तो हम कैसे दूसरे की श्रद्धा पर

आक्षेप कर सकते हैं या उसे अवहेलना से देख सकते हैं। अहिंसा का सार यही है।

साथ ही सत्य की जो झाँकी मुझे मिली है, मुझ अपूर्ण को तो वही पूर्ण सत्य जैसी है। इसलिए उससे न डिगने में मुझे जान पर भी खेल जाना चाहिए। यही सत्याग्रह है। यह ध्यान रहे कि उस आग्रह की सीधी चोट मुझसे बाहर कहीं न पड़े। अर्थात् यदि आग्रह सचमुच सत्य है, तो वह अत्यन्त सविनय ही हो सकता है। विनय का जहाँ भंग हो, वहां आग्रह भी सत्य नहीं है।

यहां प्रश्न हो सकता है कि सत्य में तो सभी समाया है—मेरी झाँकी भी, मेरा स्वधर्म भी और सब का स्वधर्म भी। फिर उस आदर्श-रूप संपूर्ण सत्य को ध्यान में लें तो आग्रह की कहाँ गुंजाइश रह जाती है?

बेशक यह सच है। शुद्ध सत्य में तो सब भेद लय हैं। हिंसा-अहिंसा का भेद वहाँ नहीं। ईश्वर अलिप्त है। कुछ उसको नहीं छूता।

पर हम तो अपूर्ण प्राणी हैं। इससे जब तक अपूर्णता है, तब तक अहिंसा ही हमारा धर्म है। क्योंकि जिसके प्रति हिंसा हो, उसमें भी तो ईश (सत्य) तत्व है। इससे हिंसा सत्य के प्रति द्रोह हो जाती है और अहिंसा ही सत्य को पाने का उपाय रहता है। हम अपूर्ण हैं, इसीसे हर काल और हर स्थिति में अहिंसा का परमधर्म हम पर लागू है।

मैं नहीं जानता कि अपनी बात आपके आगे मैं साफ़ रख सका हूँ। समय होता तो अपनी बात को और अच्छी तरह उदाहरणों के साथ खोल कर रखता। मैं मानता हूँ कि अंतिम आदर्श यानी परमात्म-स्थिति और प्रस्तुत अवस्था यानी हमारी आज की व्यक्तिगत स्थिति, इन दोनों किनारों के बीच सतत विकासशील धर्म की स्थिति को भी, और गति को भी कैसे निबाहा जाय—यह बहुत महत्वपूर्ण प्रश्न है। यही जीवनकला है। और इसीका ज्ञान सम्यक्-ज्ञान है। निरपेक्ष सत्य और सापेक्ष वास्तविकता—इन दोनों तटों को छूता हुआ हमारा जीवन है। एक ओर ऐहिकता पर हमारे पैर हैं दूसरी ओर अध्यात्म में हमारी निष्ठा है। यों दोनों परस्पर विरोधी

मालूम होते हैं। किन्तु विरोध ही संयुक्त होता है हमारे जीवन में। संयुक्त होता है, नष्ट नहीं होता। उसके नाश का कोई कृत्रिम और बाहरा उपाय नहीं है। किसी तत्वशास्त्र या तर्क शास्त्र या कला अथवा विज्ञान से वह नहीं हो सकता। उपाय धर्म ही है जो पिंड को ब्रह्माण्ड से मिलाता है। ध्यान रहे कि पिंड अब भी भीतर से ब्रह्म-स्वरूप ही है। पिंड यह पहचानेगा तो अपनी पिंडरूपता से उसका झगड़ा समाप्त हो जायगा। ऐसा होने पर साढ़े तीन हाथ के शरीर में रहकर भी अंत: प्रकृति में व्यक्ति निखिल के साथ तत्सम होगा, व्यष्टि समष्टि होगा।

अन्त में जिस विषय को लेकर हम चले थे, अपनी यात्रा में उसके बारे में हमें क्या परिणाम हाथ लगे हैं—एक बार फिर इसे देख लेना चाहिए।

१—व्यक्ति रूप में हम सीमित हैं। इससे स्वधर्म भी हमारा सीमित है।

२—वह स्वधर्म है, इससे हम से दूसरे के लिए वह पर-धर्म है। मुझ पर वह लागू नहीं है।

३—स्वधर्म पालन से स्वधर्म की मर्यादा आगे बढ़ती यानी व्यक्ति का विकास होता है।

४—स्वधर्म के पालन में मुझे मृत्यु से भी मुँह मोड़ने का हक़ नहीं है। पर जो मेरे धर्म को अपना धर्म नहीं मानता, मेरा कर्त्तव्य है कि उसको उसके स्वधर्म में ही निष्ठित रखने में सहकारी बनूं।

५—यह अनुभव सिद्ध है कि जो जितना स्वधर्म निष्ठ और उसके पालन में अपने प्रति निर्मम होता है वह दूसरे के प्रति उतना ही उदार, आदरशील और समभावी होता है।

६—समभावी होने का मतलब स्वधर्म-हीन होना नहीं। बल्कि दूसरे में आत्मवत् वृत्ति रखकर उसके स्वधर्म को उतना ही अक्षुण्ण और पवित्र मानने और उसके लिए उतना ही त्याग कर सकने की शक्ति होना है, जितना स्वयम् स्वधर्म के लिए। यह काम किसी तर्क-कौशल या

शाब्दिक समतोलता से नहीं हो सकता, अंतःसिद्ध अहिंसा से ही सम्भव हो सकता है !

७—आदर्श अखंड है। उस पर हमारी अपूर्णता का सीमा विभाजन नहीं है।

८—जगत् के नाम-रूपात्मक सब धर्म अमुक सम्प्रदाय अथवा जाति के स्वधर्म ही हैं। वे भी इस तरह सीमित हैं। वे निराकार आदर्श के साकार, अव्यक्त के अभिव्यक्त और निर्गुण के सगुण रूप हैं।

९—सब धर्म सच हैं। उनकी सचाई में तरतमता नहीं है। इसलिये उनमें तुलनात्मक बुद्धि गलत है। धार्मिक की अंतः शुद्धि की अपेक्षा उन में सचाई पड़ती है।

१०—आदर्श के असीम और स्वधर्म के सीमित होने के कारण अहिंसा सबके लिये सम-सामान्य और परम धर्म है।

११—असीम को पकड़ने की लालसा में सीमाओं को लाँघना या ताड़ना ग़लत है। असीम की साधना सीमाओं के भीतर रहकर करनी है। शरीर की सीमा आत्मा की सीमा नहीं है। और शरीर में रहकर आत्मा बहुत दूर, लगभग अनंत दूर, तक उन्नति कर सकता है।

१२—ऐक्य आत्मा में है। शरीर के ऐक्य की प्यास लिप्सा कहलायगी। आत्मैक्य साधने के लिये शरीर को पवित्र अर्थात् असंपृक्त रखना चाहिये। यह अनुभव की बात है कि भोग से व्यक्तियों के बीच का अन्तर बढ़ता है और संयम से उनमें प्रेम दृढ़ होता है।

१३—आदर्श एक है, धर्म अनेक। अनेक द्वारा ही एक की उपलब्धि होगी। अनेकता से रुष्ट होकर, क्षुब्ध होकर, ऊपरी जोड़-तोड़ बिठाने से कुछ न होगा। सुधारकों के इस ढंग के नेकनीयती से किये गये प्रयत्न विशेष-फल न ला सकेंगे। रूपाकारमय वस्तु निर्गुण अध्यात्म की आँच में ही पहुंच कर अनायास अपने रूप और आकार के बन्धन से मुक्त होगी। समझौता इस क्षेत्र का सत्य नहीं है।

१४—दूसरे के स्वधर्म के लिये अपने स्वधर्म का अल्पांश भी त्याग

किये बिना अपना उत्तरोत्तर अधिक त्याग कर सकना सजीव अहिंसा का लक्षण है। अहिंसा-धर्म स्थितिबद्ध नहीं, बल्कि गतिशील है । इसलिये अहिंसक कभी अपनी अहिंसा को काफी नहीं मान सकता । अपने प्रति निर्मोह दूसरे के प्रति प्रेम की अर्थात् अहिंसा की परिभाषा है।

बस, अब हुआ। गिनती आगे भी बढ़ सकती है । पर अब मैं पीछे रहूंगा। आज तो निश्चय मैंने आपको बहुत उकता दिया है। पर कोई हरज नहीं है। अब मैं आपसे अपनी जगह जाने की अनुमति ले लेता हूँ। क्षमा करें। प्रणाम ![१]

१. भाषण पर्यूषण व्याख्यान माला, कलकत्ता ।

: ११ :

धर्म

जिस विषय पर मुझे बोलना है, वह देखता हूं है 'धर्म' । यह तो मेरे लिए घबराने वाली बात है । धर्म-शास्त्र में क्या जानता हूँ ? पर धर्म शायद जानने की वस्तु नहीं । वह तो करने की है । यह नहीं कि बिन जाने करने की हो, पर करने द्वारा ही उसे जानना होता है । क्रिया नहीं तो ज्ञान भी नहीं । यानी बोलने से तो धर्म का सम्बन्ध है ही नहीं । भीड़-भाड़ से भी उसका वास्ता नहीं है । धर्म की साधना एकान्त में और मौन द्वारा होती है । बोलने से तो वाद बनते हैं । वाद से विवाद खड़े होते हैं । अनेकानेक तो आज वाद हैं । उन वादों में आज कल खींचतान और अनबन है । तू-तड़ाक और मारपीट तक सुनी जाती है । बोलकर उस कलह के कोलाहल में अक्सर बढ़ती ही हुआ करती है । तब उस बोलने में धर्म कहां रखा है ? इससे वृथा बोलने से बचना ही धर्मानुकूल है ।

धर्म अनेकता में मेल पैदा करता है । बहुतेरे जो वाद-विवाद हैं, धर्म उनमें समन्वय लाता है और शान्ति देता है । धर्म इस तरह शंका की नहीं, निष्ठा की वस्तु है । स्वार्थ हमें फाड़ते हैं ता धर्म हमें जोड़ता है ।

फिर भी भाग्य का व्यंग समझिए कि उस धर्म के बारे में मुझे बोलना होगा । हाँ, बोलने की भी जगह हो सकती है, बशर्ते कि वह फल-प्रद हो । उससे सद्-कर्म की प्रेरणा और उत्पत्ति हो । तब तो बोलना धर्म है नहीं तो अधर्म । कवि का वचन है 'बुद्धिः कर्मानुसारिणी ।' उसी

तरह बोलना भी कर्मानुसार होना चाहिए। मैं हूँ कि कोई हो, कथनी के पीछे अनुरूप करनी नहीं है तो वैसी कथनी पाखंड हो जाती है। वह बंधन और व्यर्थता बढ़ाती है।

इस पर्यूषण-व्याख्यान-माला के आयोजन को सिद्ध तो तभी कहा जायगा, जब उससे कर्त्तव्य-मार्ग में स्फूर्ति और तत्परता मिलेगी। नहीं तो कहे हुए शब्द बुद्धि में चंचलता लाते हैं। बुद्धि छिड़ जाने पर यदि आदमी ठीक काम में न लग जाय और न लगा हो तो अशान्त रहता है। उसको चैन नहीं पड़ता। इससे फिर हानि होती है। मैं यह देखता हूं कि जहाँ हज़ार-पाँच सौ का जमाव रहता है, वहाँ व्याख्यान व्यसन हो जाता है। बोलने वाले को उसका नशा चढ़ जाता है और सुनने वाले भाषण को अच्छा-बुरा कह कर वहीं पल्ला झाड़ चलते हैं। यह धर्म थोड़े ही है।

इससे पर्यूषण-पर्व की यह व्याख्यान-माला हवा में नहीं उड़ जानी चाहिये। उसका कुछ परिणाम निकलना चाहिए। अगर परिणाम में एक भी आदमी स्वार्थ को कम कर जीवन को धर्म-सेवा में, लगाने को चल पड़ा तो बेशक यह आयोजन सफल हो गया समझिये। मैं भी तो बात कहता हूं, मैं कौन काम करता हूं। पर सच्चा आदमी मुँह से कम कहता है। उसका चरित्र उससे अधिक कह देता है। धर्म-निष्ठ का तो जीवन ही बोलता है। उसे फिर अलग मुँह से कहने को बहुत कम रह जाना चाहिए।

धर्म क्या है ? आप्त वचन है कि वस्तु-स्वभाव धर्म है। पानी शीतल रहेगा और आग गरम। पानी का धर्म शीतलता, आग का गरमी। इसी तरह आदमी को खरा इन्सान बनना चाहिए। अर्थात् मनुष्य का धर्म है मनुष्यता।

लेकिन कहा जायगा कि क्या कोई अपने स्वभाव से बाहर भी जा सकता है ? जो जो करता है, अपने स्वभावानुकूल। चोर का स्वभाव चोरी करना, झूठे का झूठ बोलना। तब धर्म-अधर्म का कहाँ सवाल

आता है ? स्वभाव ही यदि धर्म हो तो अधर्म कुछ रहना ही नहीं चाहिये, क्योंकि अपने स्वभावानुसार बरतने को तो सब लाचार ही हैं। पानी ठंडा हो और आग गरम, इसके सिवा भला और हो क्या सकता है ? तब अधर्म की आशंका कहाँ ?

हाँ, वह ठीक; लेकिन आदमी की बात अजब है। आदमी में कई तहें हैं। उसका शरीर कुछ चाहता है तो मन कुछ और चाहता है। इस तरह आदमी में अंतर्विरोध दिखाई देता है। उससे द्वन्द्व और क्लेश पैदा होता है।

परिणाम निकला कि आदमी अपने स्वभाव में स्थिर नहीं है। वह स्वस्थ नहीं है।

तब विचारणीय बनता है उसका 'स्व' क्या और 'स्वास्थ्य' क्या ?

विचार करने चलते हैं तो मालूम होता है कि शरीर ही आदमी नहीं है। वह कुछ और है। उससे सूक्ष्म है और भिन्न है। कहना होता है कि वह आत्मा है। आत्मा जड़ नहीं, चेतन है। इससे जितना आदमी का व्यवहार जड़ शरीर की वासनाओं से बंधा नहीं, बल्कि चैतन्य आत्म-रूप होगा, उतना ही वह स्वस्थ है, यानि धर्म-युक्त है।

तो क्या शरीर को काट-काट कर अलग कर देने से शुद्ध आत्मा निकल आवेगी ? शंकावान ऐसी शंका कर सकते हैं। अगर आदमी आत्मा ही है और शरीर आत्म-रूपता की सिद्धि में बाधा है तो उसे सुखा-जला कर नाश किया जाय। यही न ?

पर नहीं, ऐसा नहीं। कायिक क्लेश धर्म की परिभाषा नहीं है। सिद्धि का वह मार्ग नहीं है। काया को नष्ट नहीं, वश करना है। काया बिना आत्मा की ही अभिव्यक्ति कहाँ संभव है ? काया गिरी कि आत्मा ही अदृश्य हुई। अतः जो करना है वह यह कि शरीर अपने प्रत्येक अणु में आत्म-धर्म स्वीकार करके चले। आत्मा के प्रति प्रतिरोध और द्रोह उसमें न रह जाय। वह सधे घोड़े के मानिन्द हो। ऐसा शरीर तो मुक्ति-साधना में साधक होता है और इस तरह स्वयं एक तीर्थ और एक

मन्दिर बन जाता है। आत्म-विमुख होकर तो वह बिगड़े घोड़े का तरह दमनीय है ही।

बेशक अशरीरी सिद्ध की कल्पना भी हमारे पास है। चरम आदर्श की बात कहेंगे तो वहाँ शरीर तक नहीं रहता। आत्मा ही अपने सच्चिदानंद-स्वरूप में विराजती है।

अच्छा, तात्विक तो यह बात हो गई। वह सरल भी लगती होगी। अन्तर्विरोध को जीतना, इन्द्रियों को वशीभूत करना और स्वयं उत्तरोत्तर शुद्ध चिन्मय आत्म-तेजोरूप होते जाना धर्म का मार्ग है।

पर व्यवहार में कठिनाई दीखती है। ठीक ही है। चलेंगे तब तो राह की बाधा का पता चलेगा। चलना ही न शुरू करें तो आगे का रास्ता सीधा-सपाट दीख पड़े तो क्या अचरज ? सो धरती पर कदम बढ़ाते हैं कि उलझन दीखती है। यहाँ केवल रूप में धर्म नहीं मिलता, नाना विशेषणों के साथ वह मिलता है। जैसे जैन-धर्म, सनातन-धर्म, ईसाई-धर्म, बौद्ध-धर्म, और इस्लाम धर्म। कोई धर्म अपने को ग़लत नहीं मानता। और बेशक कोई ग़लत हो भी क्यों ? पर हर धर्म में कुछ लोग ऐसे हैं, जो अपने धर्म को इतना एकान्त सही मान लेते हैं कि दूसरे के धर्म को ग़लत कहने को उतारू हो जाते हैं। तब धर्म का जिज्ञासा में अपने से बाहर निकल कर आने वाले को बड़ी दुविधा हाती है। अनेक उपदेष्टा मिलते हैं, जो कहते हैं कि हमारे डेरे में आ जाओ, हमारे पास मुक्ति का मार्ग है। और वह कहते हैं कि हमारा साहित्य पढ़ो। तुलनात्मक बुद्धि से देखकर विवेक से काम लो। तब हो न सकेगा कि हमारे ही धर्म में तुम न आ मिलो।

दावा सब धर्मों का यही है। और झूठ भला किसको ठहराया जाय? धर्म-तत्व किसी शकल के पात्र में हो, अगर वह है तो पात्र उपयोगी है। यानी नाना नाम वाले जितने सम्प्रदाय हैं, धर्म-पूर्वक वे सब सच बनते हैं। धर्म-हीन होकर वे सब मिथ्या बन जाते हैं। जैसे जब तक आत्मा है तब तक अमुक नामधारी व्यक्ति की देह आदरणीय है। आत्मा

निकल जाने पर वह देह रोग का घर बन रहेगी। तब उससे जितनी जल्दी छुट्टी पाली जाये, उतना ही अच्छा। इसी तरह जैन अथवा और नामों के नीचे जो सम्प्रदाय बन गये हैं, यदि वहाँ धर्म है तो वे जैन अथवा अन्य विशेषण उपादेय ठहरते हैं।

पर देखने में आता है कि कहीं जैन-धर्म को ऐसा कस कर चिपटाया गया है कि धर्म तो उसमें से निचुड़ गया है और केवल 'जैन' रह गया है। ऐसे उदाहरण बिरले नहीं हैं। वहाँ जैन-धर्म को धर्म के लिए माना जाता है। इस वृत्ति में सम्प्रदाय-मूढ़ता है।

दूसरे सम्प्रदायों में भी ऐसी बातें मिलती हैं और सच यह है कि भीतरी धार्मिकता जितनी कम होती है, साम्प्रदायिक मताग्रह उतना ही उत्कट देखा जाता है। पर यह मोह है।

मैं अपनी बात कहूँ। मैं अपनी माँ का इकलौता बेटा था। चार महीने का था तभी पिता मर गये। माँ ही मुझे सब कुछ रहीं। पर एक दिन आया कि उनकी आत्मा देह छोड़ प्रयाण कर गई। अब आप मेरी हालत जान सकते हैं, पर कलेजे पर पत्थर रख कर मुझे यही करना पड़ा कि श्मशान ले जाकर उनका शव-दाह कर आऊँ। मेरे लिए यह सुख की बात न थी; पर क्या आप लोगों में से कोई भी यह सलाह देने को तैयार है कि मुझे माँ की देह से चिपटा ही रहना चाहिए था, छोड़ना नहीं चाहिए था ?

साम्प्रदायिक रूढ़ियों का भी यही हाल है। यदि धार्मिक तेजस्विता इतनी है कि उसके स्पर्श से क्रिया प्राणवान हो जाय तब तो ठीक, नहीं तो आग्रह से निष्प्राण रूढ़ि का पालन कैसे ठीक कहा जा सकता है ?

विशेषण से विशिष्ट होकर ही जो जगत-व्यवहार में धर्म मिलता है, इससे बुद्धि-विचक्षण पुरुषों को भी भ्रान्ति होती देखी जाती है। शुद्ध धर्म के मोह में उनको उन विशेषणों के प्रति अवज्ञा हो जाती है। ऐसी अवज्ञा आजकल अक्सर देखी जाती है। पर यह उचित नहीं; क्योंकि जो रूप-नाम से हीन है, वह जगत के लिए नहीं के जैसा है। इसलिए

सम्प्रदाययुक्त धर्म को भी एकान्त अनुचित मानना भूल है

पर धर्म के खोजी की कठिनाई ऊपर की बात से और बढ़ जाती है। यह धर्म भी सच, वह धर्म भी सच। पर दोनों एक तो हैं नहीं। यह देख कर वह झमेले में पड़ सकता है। उधर से पुकार सुनता है तुलनात्मक अध्ययन की। तब वह क्या तुलनात्मक अध्ययन में पड़े और तय करने चले कि कौन इनमें कम श्रेष्ठ है और कौन अधिक ?

मैं मानता हूं कि जिज्ञासु इस तुलनात्मक अध्ययन के चक्कर में पड़ा कि खोया गया। उसे फिर राह न मिलेगी और वह शब्द की भूल-भलैयां में भटक रहेगा, क्योंकि फैसला करने की बुद्धि से धर्मों में तुलना करने चलना एक अहंकार है और ग़लत है।

अरे भाई, धर्म वहां बाहर खोजे मिलेगा ? उसकी गुहा तो भीतर है। भीतर झाँको तो वहाँ से एक धीमी लौ का प्रकाश प्राप्त होगा। आत्मा की आवाज़ सब के भीतर है। उसे सुनते चलो। उसी से बाहरी उलझन कटेगी।

पर अधीर कहता है कि अजी, कहाँ है वह आत्मा की आवाज़ ? हम सुनते हैं और कुछ सुनाई नहीं देता। वह भाई भी ग़लत नहीं कहता। पर उसे अधीरता पहले छोड़नी होगी। बात यह है कि हमारे अन्दर तरह-तरह की भावनाओं का इतना कोलाहल मचा रहता है कि वह धीमी आवाज़ कैसे सुनाई दे ? वह तो है, लेकिन उसे सुनने के लिए शोर की तरफ़ से कान बन्द करने होंगे। तरह-तरह के वाद-विवाद, शास्त्रार्थ चल रहे हैं। उन सब की तरफसे बहरे बन जाना होगा। जा बाहर दीख रहा है, उस पर आँख मूंद लेनी होगी। तब जो नहीं सुनता, वह सुनाई देगा और नहीं दीखता वह दिखाई देगा। बस उसको गह लीजिये और उसके पीछे जो भी छोड़ना पड़े छोड़ दीजिए। जहाँ वह ले चले, चले चलिये। ऐसे आप देखेंगे कि आप सही धर्म-पालन कर रहे हैं और धर्म के नाम पर जो जंजाल और दुकानदारी का पसारा फैला है. उससे बच सके हैं।

पर दुनियादार कहेगा कि आप कहाँकी आत्मा की बातचीत करतेहो? आई मौत कि सब उड़ जाता है। किसने भला आत्मा देखी है? जन्मा है सो मरेगा। मर कर क्या छोड़ जायगा? आत्मा तो वह छोड़ नहीं जाता, पर धन-दौलत उसकी छूट जाती है। धर्म की कमाई कहाँ दीखती है? धन की कमाई आदमी के मरने के बाद भी टिकती है। एक ने जीते-जी पाँच हवेलियाँ बनवाईं। वे पाँच सौ वर्ष तक रहीं तो तब तक उसकी याद रहेगी: नाती-पोतों और परपोतों का भला होगा। वह टिकने वाली कमाई है। इसके सामने आत्मा की बात हवाई बात नहीं तो भला क्या है?

ठीक तो है। आते हुये हावड़ा पुल से आना हुआ कि पास एक बहुत बड़ा क्रेन दीखा। भला उसकी ताकत का क्या पूछना? सैकड़ों मन बोझ को गेंद की तरह यहां से वहां फेंक दे। ऊँचा ऐसा कि आसमान की छाती में मुक्का मारता हो। आदमी की उसके आगे क्या हस्ती? फिर लड़ाई में हिटलर के बम याद कीजिये। एक-एक ऐसा कि यह हज़ारों को तहस-नहस कर दे और क्षण में भरी बस्ती वीरान कर दे। दुर्दान्त वास्तविकता है। इसके आगे आदमी चींटी जितना भी तो नहीं। फिर क्या धर्म? और क्या आत्मा? उस ठोस लोहे की विकराल वास्तविकता के आगे वह निरी ख़ामख्याली ही नहीं है?

एक बार तो बिन सोचे मन सहमता है। मालूम होता है कि भीमाकार जो लोहित रुद्र सामने है, वह तो है और वह जो निराकार धर्मतत्व की बात है, वह नहीं है। पर एक क्षण को मन सहम भी जाता हो; लेकिन तभी अन्दर से प्रतीति आती है कि उस दैत्याकार क्रेन के पीछे चाभी घुमाता हुआ साढ़े-तीन हाथ का एक आदमी बैठा है। क्रेन कितना भी बड़ा हो वह उस नन्हे सचेतन आदमी के हाथ में जड़ की भांति निष्क्रिय है। इसी तरह बम कितना भी नाशक हो, पर हिटलर उसके पीछे है तभी उसकी शक्ति विनाश कर पाती है। अर्थात् जड़ की ठोस भीमता के पीछे चैतन्य की अव्यक्त सत्ता ही काम कर रही है।

श्रौर कहाँ हैं श्राज ऐतिहासिक काल के महाकाय जीव-जन्तु ? श्रौर साम्राज्य श्रौर सत्ताएं ? श्रादमी ने श्रपने श्रहंकार में जो कुछ खड़ा किया वह सब एक दिन खंडहर बन रहा । पर बुद्ध श्रौर महावीर को हुए हजारों वर्ष हो गये श्रौर ईसा की श्राज यह बीसवीं सदी है । काल के इस गहन पटल को भेद कर इन महापुरुषों का संदेश श्राज जीवित है श्रौर उसके भीतर से वे स्वयं श्रमर हैं । कहाँ हैं सम्राटों के श्रतुल वैभव, महल-श्रटारी कि जिनकी उम्र तुम ज्यादा बताते हो? यह सब कुछ धूलमें मिल गया है । काल ने उसे लथेड़ डाला है । फिर भी उस काल पर विजयी बना हुश्रा श्रौर मृत्यु के बीच श्रमृत बना हुआ प्रेम का संदेश सदियों के श्रन्तराल से श्राज भी हमें सुन पड़ता है ।

इसलिये धन की कमाई नहीं रहती, धर्म की ही कमाई रहती है, पर वह कमाई दीखती नहीं । धरती में का बीज भी कहीं दीखता है ? पर श्रधीर उसका फल चाहता है । किन्तु उसका तत्कालीन प्रभाव नज़र नहीं भी श्राता । श्रनातोले फ्रांस की एक कहानी है । उसमें दिखाया गया है कि ईसा जब ज़िन्दा थे तब वह एक श्रवारा उठाईगीर के मानिन्द समझे जाते थे । ग़रूर में मस्त श्रपने को ऊंचा माननेवाले लोग उन्हें हिक़ारत से देखते थे । लेकिन लोगों की घृणा से ईसा को क्या ! उन्होंने तो श्रपने को प्रेम से भरा रखा । वह फांसी चढ़ गये, पर फांसी चढ़ाने वालों के लिए उनका मन करुणा से भरा रहा । आज फांसी देनेवाले वे अफसर कहाँ हैं ? कौन उनको पूछता है ? श्रौर ईसा को श्राज श्रवतार मानकर करोड़ों लोग गद्‌गद् हो जाते हैं । यह धर्म की महिमा है या किसकी ?

धर्म का बीज इतना छोटा है कि देखने को ऊपर की नहीं, भीतर की आँख चाहिये, श्रौर घास की तरह जल्दी वह उग नहीं श्राता । इससे धर्म की श्रद्धा कठिन होती है । पर यही उस श्रद्धा की कीमत भी है । तुम्हारी प्रतिष्ठा न हो, लोग तुम्हें न पूछें, बल्कि उल्टे त्रास दें श्रौर

हँसी उड़ावें तो भी धर्म से विमुख कैसे हुआ जा सकता है ? उस श्रद्धा का भीतर जगाकर सब तरह की प्रतिकूलता को प्रेम से जीतना है ।

आज तो उसी श्रद्धा की मांग है । मार-काट मची है और भोग के प्रतीक धन की पूजा की जा रही है । भौतिक सुख-सुविधा ही एक इष्ट वस्तु समझी जाती है । बाकी भ्रम । पश्चिम की कल-पूजा और कला-पूजा के पीछे यही इन्द्रिय-परायणता है । इस नास्तिक जीवन-नीति की एक बाढ़ हा आ गई है और घर-घाट उसमें बहता हुआ दीखता है । ऐसे में आत्म-श्रद्धा भारत ने खोई कि सब गया ।

मूलभूत खतरा पश्चिम से आया भौतिक दर्शन है । पश्चिम यों तो उन्नति कर रहा है, प्रगति कर रहा है, पर वह विनाश के आवर्त्त के किनारे भी पहुँच रहा है । उस जीवन-नीति में ज़ोर दिया जाता है 'अहं' पर । कहते हैं 'Develop personality' (व्यक्तित्व का विकास करो) । यह उनका मन्त्र है । पर इससे थोड़ी दूर बढ़ने पर ही स्पर्धा पैदा होती है । इस 'Developed personality' (बढ़े हुये व्यक्तित्व) का जोर अपने ऊपर नहीं, दूसरे के ऊपर खर्च होता है । परिणाम होता है हिंसा और दमन और शोषण । वहाँ वासनाओं को उत्तेजन दिया जाता है, यहाँ तक कि उनका राष्ट्र-प्रेम नशे का रूप ले लेता है । इस नशे में समूह-के-समूह संगठित होते हैं और दूसरों को ललकार देते हैं । समझा जाता है कि वे बढ़ रहे हैं, पर पड़ौसी को पराजित कर और हीन समझ कर आगे बढ़ने वाली सभ्यता झूठी है । वह वृत्ति धार्मिक नहीं, अधार्मिक है । धार्मिक वृत्ति कहती है कि व्यक्ति सेवक बने । अपने को शून्य और अकिंचन मानते और बनाते रहने की पद्धति सच्ची धार्मिकता है ।

सोचता हूँ कि इस दुनिया में सच्चा करिश्मा क्या है तो मुझे मालूम होता है कि जहाँ सब अपने-अपने अहंकार में डूबे हैं, उस जगत में सच्ची विनम्रता ही सबसे बड़ा करिश्मा है । जो कृतार्थ भाव से अपने को सबका सेवक बनाता है, वही धन्य है ।

एक-दूसरे को कुहनी से ठेलते हुए, दबाते-कुचलते हुए खुद आगे

बढ़ने का रोग विलायत में है तो हिन्दुस्तान में भी है। हिन्दुस्तान में वह कम नहीं है। इस तरह सफलता भी पाई जाती-सी दीखती है, पर वैसी दुनिया की सफलता कोरा झूठ है और दम्भ है।

महावीर के नाम पर हम लोग मिलते और जयध्वनि करते हैं। हम उनके धर्म की प्रभावना करना चाहते हैं। लेकिन महावीर ने तो राज-पाट छोड़ा और बन की राह ली। सुख का रास्ता तजा, दुःख का मार्ग पकड़ा। दूसरों को सता कर खुद आराम पाने से ठीक उल्टी रीति उन्होंने अपनाई। वह रीति खुद दुःख उठाकर दूसरे का कष्ट हरने की, यानी अहिंसा की, थी। हम देखेंगे तो पायेंगे कि स्वेच्छापूर्वक पर-हित में दुःख उठाने का रास्ता ही सुख देता है। महावीर के तपस्वी जीवन का यही नहीं तो दूसरा क्या सार है ?

धर्म तत्व यह है कि अहंभाव छोड़ो, सेवा-भावी बनो। परिग्रह या संचय मन में लोभ और अभिमान लाता है। पदार्थ परिग्रह नहीं है, उनमें ममता परिग्रह है। समाज में आज कितनी विषमता दीखती है। एक के पास धन का ढेर लग गया है, दूसरी जगह खाने को कौर नहीं। ऐसी स्थिति में अहिंसा कहाँ ? धर्म कहाँ ? कुछ लोगों की ममता से समाजवादी विचार को जन्म मिला। समाजवाद लोगों में धन का समान वितरण चाहता है। गाँधीजी अहिंसक हैं, पर समाजवादी तो अहिंसक नहीं हैं। इससे जब गाँधीजी कहते हैं कि ममता छोड़ो तब समाजवादी यह कहने का धीरज क्यों रखने वाला है ? वह कहेगा कि तुमसे मामता नहीं छूटती है तो मेरे तो हाथ हैं। मैं तुम्हारा धन छीने लेता हूँ। आप सच मानिये कि हमारे आस-पास भूखे लोगों की भूख मँडरा रही हो तो उसके बीच महल के बन्द कमरे में धर्म का पालन नहीं हो सकता। धर्म कहता है कि धनिक अपने धन का रक्षक ही अपने को समझे, उस पर अपना स्वत्व-भाव नहीं माने।

कोई ज़रूरत नहीं है कि हम चाहें कि धनिक धनिक न रहें, पर धनिक को तो अपने को ग़रीब ही मानना चाहिये। जिसके पास सोने

का जितना अधिक बोझ हो, उसकी आत्मा उतनी ही दबी है। पर उस सोने से अपनी आत्मा को आप अलग रखें, यानी ममता छोड़ दें तो सोना आपका कुछ न बिगाड़ सकेगा, न फिर उससे दूसरे का ही अलाभ होगा, और तब फिर वह सोना जगत का हित करेगा; क्योंकि धर्म के काम में लगेगा।

दूर क्यों जाइये, अपने ही पहले श्रीमन्तों को देखिये न। कोई भला उन्हें देख कर कह सकता था कि ये कोटयाधीश हैं ? सादा रहन-सहन, वही चाल-ढाल। पर आज की तो आन-बान ही निराली है। जैसे धन बदन पर उछला जाता हो। दिखावा बढ़ रहा है। अरे भाई, तुम्हारे धन है तो यह कौन बड़ाई की बात है ? बड़ाई की बात तो त्याग में है।

अव्वल तो त्याग का दिखावा भी बुरा है, पर कोई धन का दिखावा करने बैठे तो यह महा मूर्खता के सिवाय और क्या हो सकता है ? सच्चा आदमी, यानी सच्चा धार्मिक, अपने को अकिंचन मानेगा। दिखावे पर वह कौड़ी नहीं खर्च करेगा। अपरिग्रही होगा और धन को परोपकार के निमित्त ही मानेगा।

भाइयो, मैंने आपका इतना समय लिया। अब जितनी ज़मीन हम चले हैं, उस पर फिर पीछे फिरकर एक निगाह डाल लें:—

पहली बात यह कि धर्म नाम की वस्तु शुद्ध रूप में नहीं मिलती। बाहर खोज पर चलते हैं तो वह विशेषण के साथ मिलती है। विशेषण अपने-आप में मूल्यवान नहीं हैं। वे तो पात्र की तरह हैं। धर्म का उनमें रस है तो ठीक, नहीं तो बेकार।

दूसरी बात कि धर्म का मूल्य आत्मा में है। इन्द्रियों को बस में करना है और आत्म-रूप होते जाना है। इस मार्ग पर अपने-पराये की बुद्धि को मिटाना होगा। दूसरों में आत्मवत् वृत्ति रखनी होगी।

तीसरी बात यह कि अहंकार धर्म का शत्रु है और सेवा धार्मिक जीवन का लक्षण है।

चौथी बात, जिस पर कि काफी ज़ोर भी कम होगा, कि धर्म बोलने,

जानने की चीज़ नहीं है। वह तो आचरण की वस्तु है। तर्क-पूर्वक धर्म तत्व को छान डालने की स्पर्धा आदमी को नहीं करनी चाहिए। सूरज को आँख गड़ा-गड़ा कर देखो तो क्या नतीजा होगा? उससे आँख ही अन्धी होगी। इसी तरह आत्मा-परमात्मा को बहुत तर्क-वितर्क के जाल डालकर पकड़ने का आग्रह ठीक नहीं। वह तो व्यसन हो जाता है। उसमें पड़कर बुद्धि विलासिनी और निर्बल हो जाती है। परम तत्व को जान कर भला कोई चुका सका है कि हम चुका देंगे? फिर उस पर वाद-विवाद क्यों? शास्त्रार्थ क्यों? घंटों उलझी चर्चा क्यों? उचित है कि जितना पचे, उतना बौद्धिक ज्ञान हम ले लें। बौद्धिक ज्ञान तो अपने-आप में कोई सच होता नहीं है। बारीकी से देखें तो ज्ञान और ज्ञेय की प्रथकता पर ही वह ज्ञान सम्भव होता है। पर प्रथकता तो झूठ है। इससे ऐसा ज्ञान भी एकान्त सच कैसे हो सकता है? धर्मानुभव की स्थिति वह है, जहां ज्ञाता और ज्ञेय अभिन्न हैं, अर्थात् जहां ज्ञान रहे उतना भी अन्तर उनमें नहीं है। ज्ञानवान वहाँ घुल रहता है, जैसे नोन की गाँठ पानी में गल रहती है।

यह सुन बुद्धिवादी (रैशनलिस्ट) मुझे सवालों से तोप सकता है, पर सवाल की कहीं शान्ति हुई है? शंका शान्त होगी तो बस श्रद्धा में। जो अनुभव की बात है, वह बहस की नहीं है, और समझ कर किसी ने सत्य का पार नहीं पाया है। इसलिए धर्म के विषयों में हमें नम्र और जिज्ञासु होकर चलना चाहिए।

पाँचवी बात यह कि धर्म से ऐसे व्यवहार हमें नहीं करने चाहिएं, जैसे धन से करते हैं। धन से हमारी गरज चिपटी रहती है। पर धर्म से बदला हम नहीं चाह सकते। यह तो सौदे जैसी बात हो जायगी। धन के मोल जिस तरह चीज़ें खरीदी जाती हैं, वैसे धर्म के बदले भी हम स्वर्ग और पुण्य खरीदना चाहें तो यह ग़लती है। धर्म तो हमें अपनी ही असलियत देता है। इससे बड़ा और दूसरा लाभ क्या होगा? यह धर्म को लजाना है कि हम उसके ज़रिये ऐश्वर्य बनाना चाहें या अपना

प्रभाव बढ़ाना चाहें। यह तो हीरे से कौड़ी का काम लेने जैसा हो जायगा। महातत्व की उपलब्धि से क्या हम क्षुद्र प्रयोजन साधने की बात सोचें? यह तो वैसे ही हुआ, जैसे ज्वालामुखी के विस्फोट पर हम अपनी चावल की हाँडी पकाना चाहें। ऐसे हाँडी भी जल जायगी, हम भी जल जायेंगे। इसलिए धर्म के उपयोग के सम्बन्ध में हम सावधान रहें। उससे लौकिक प्रयोजन साधने की इच्छा हम तज दें। ऐसी इच्छा तो हमारी कंगाली का सबूत है और अज्ञान का भी।

कवि ने कहा, 'कौड़ी को तो खूब सम्भाला, लाल रतन क्यों छोड़ दिया?' धर्म वह लाल रतन ही है। पर मुट्ठी कौड़ी पर ही बंधी है तो लाल रतन कैसे हाथ लगेगा? इसलिए लाल रतन लेने के लिये कौड़ी पर से मुट्ठी छोड़ देनी होगी। आप लोगों में बड़ी-बड़ी सम्पत्तियों के स्वामी होंगे। धर्म पाना चाहते हैं तो उस पर से आपको मुट्ठी छोड़ देनी होगी। मुट्ठी छोड़ने से वस्तु थोड़े छूटती है। यह तो भ्रम ही है। पर दोनों हाथ लड्डू का भरोसा मैं आपको देने वाला नहीं हूँ। या तो अहं–गर्व रखिये, या धर्म रखिये। धर्म रखकर आप अपने लिए नहीं रह जाते, सब के लिए हो जाते हैं। उसके लिए अन्दर की वासनाओं को, स्वार्थ-ईर्षा को, मताग्रहों को, गिरोहबन्दी को सब को छोड़ देना होगा। लेकिन छोड़ने से आप घाटे में न रहेंगे, क्योंकि छोड़कर वह वस्तु आपको मिलेगी, जिसकी कीमत अकूत है। वह है आपकी 'आत्मा' अपने को खोकर सारे जगत का राज पाया तो क्या पाया? क्योंक तब वह धूल बराबर भी नहीं है।[1]

१. भाषण पर्यूषण व्याख्यानमाला, कलकत्ता।

: ११ :

युद्ध

जीवनकर्म क्या है ? सोचता हूँ तो एक ही उत्तर मिलता है : युद्ध। जीवन युद्ध है।

युद्ध से घबराना जीवन से बचना है। वे शान्तिवादी जो युद्ध से किनारा रखने की सीख देते हैं और युद्ध से ही युद्ध करने आगे नहीं आते, वे शान्ति के वादी ही हैं, उसका मूल्य चुकाना नहीं चाहते। शान्ति के वे तत्पर आचरणी नहीं हैं, उसके सिपाही नहीं हैं। अर्थात्, वे शान्ति ला नहीं सकते। वे अशान्ति से डरते हैं और उससे लड़ नहीं सकते। शान्ति न-कार नहीं है। जो अशांति का चुनौती नहीं दे सकती, वह कैसी शान्ति ? शांति दास नहीं योद्धा चाहती है। और वह शांति का चोर है जो युद्ध से आँख चुराता है। घर में अपने को बन्द कर कोई शांति-सेवी नहीं हो सकता। बाहर द्वेष की आग है, इसलिए अपने ऊपर किवाड़ बन्द कर जो भीतर विरागी बन बैठता है, वह विरागी नहीं है, कायर है। इसी तरह जो चारों तरफ जलती हुई कलह की आग से, शान्ति की ओट और शान्ति के सपने ओढ़ कर, और उनमें बन्द होकर अपने को बचाता है, वह अपने को धोखा देता है। शान्ति अपने सेवक से बात नहीं, काम चाहती है। वह उत्सर्ग चाहती है। जो आराम नहीं तज सकता, एडीटरी और लेखकी की सुरक्षित आलोचना छोड़ कर घमासान में नहीं आ सकता, वह शांति को भी कैसा चाहता है ? वह तो अपने तन की ही रक्षा चाहता मालूम होता है। लेकिन शान्ति

उसी को पहचानेगी जो अशांति की ललकार लेगा, उससे मोरचा लेगा। जो योद्धा नहीं वह सेवक नहीं। वह प्रेम का अधिकारी भी नहीं। प्रेम का रास्ता खतरे का रास्ता है। प्रेमी योद्धा तो है ही। उस योद्धा से सब-कुछ माँग लिया जायगा और बदले में आश्वासन भी उसे नहीं दिया जायगा। उसका सहारा होगा बस प्रेम। इधर-उधर और कुछ नहीं। उतने ही को सँजोए रखकर बिना किसी प्रत्याशा के वह अपना तन मन दे सके तो ठीक है। ऐसा नहीं तो वह प्रेमी नहीं। और शांति भी अपने प्रेमी से यह सब उत्सर्ग माँग लेगी। जो अशांति से लड़ने में अपनी जान तक खोने को तैयार नहीं है, वह शांति के समर्थकों में नहीं गिना जायगा।

इससे जीवन को जो आराम मानते हैं, वे जीवन को नहीं जानते। वे जीवन का स्वाद नहीं पाएँगे। जीवन युद्ध है, आराम नहीं। और अगर आराम है तो वह उसी को प्राप्य है जो इस युद्ध में पीछे कुछ न छोड़ अपने पूरे अस्तित्वसे उसमें जूझ पड़ता है। जो सपने लेते हैं वे सपने लेते रहेंगे। वे आराम नहीं आराम के ख्याल में ही भरमाए रहते हैं। पर जो सदानंद है, वह क्या सपने से मिलता है? आदमी सोकर सपने लेता है। पर जो जागेगा वह पाएगा। सोने का पाना झूठा पाना है। सपना सपने से बाहर खो जाता है। असल उपलब्धि वहां नहीं। इससे मिलेगा वही जो क़ीमत देकर लिया जायगा। जो आनंद रूप है, वह जानने से जान लिया नहीं जायगा। उसे तो दुःख पर दुःख उठा कर उपलब्ध करना होगा। इसलिए लिखने-पढ़ने और मनन करने से उसकी स्तुति अर्चना ही की जा सकती है, उपलब्धि नहीं की जा सकती। उपलब्धि तो उसे होगी जो जीवन के प्रत्येक क्षण योद्धा है, जो अपने को बचाता नहीं है, और बस अपने इष्ट को ही जानता है; कहो कि जो उसके लिए अपने को भी नहीं रखता है।

पर कैसा योद्धा? हाथ में कटार ली और चार छः के गले काट दिए, ऐसे आदमी भी योद्धा कहलाते हैं। इतिहास अधिकतर ऐसों को ही जानता है। शूरता और वीरता के नाम पर एकाएक वैसी ही तस्वी

सामने रटती है। और आज तो वह भी नहीं। आज तो बिना देखे और दीखे गोले बरसाए जाते हैं और तोप बंदूक चलाई जा सकती है। आधुनिक वीरता कुछ ऐसी ही चीज़ है। लेकिन इस वीरता में भय भी मिला हुआ नहीं है, यह मैं नहीं कह सकूंगा। दुश्मन का डर अंदर ही अंदर मन को दबोचे रहता है। और उस अंदरूनी भय का सामना करने के लिए एक बना हुआ साहस, जिसमें नशा रहता है, हठात् पैदा कर लिया जाता है। वह नशा तलवार चलवाता है, और गोले फिंकवाता है। ऐसा व्यक्ति खुद आतंकित होता है और आतंक उपजाने को ही जीत जानता है। वैसे अमानुषीय साहस को ऊपर से देखने वाले शूरता और वीरता कह देते हैं। दुबक रहने वाले कायर के मुक़ाबले तो वे भी वीर हैं ही। पर क्या शब्द के पूरे अर्थ में उन्हें योद्धा कहा जा सकता है? नशा उतर जाने पर क्या वह दयनीय ही नहीं दीख आएंगे? ऐसी लड़ाई लड़ने वाले नित्य के जीवन में बात बात पर अपमानित होते और आत्मा बेचते हैं। बारह-पंद्रह रुपए का सिपाही जो लड़ाई में अजब विक्रम दिखाता है, लड़ाई के अभाव में क्या वह काहिल, झगड़ालू, डरपोक और पालतू ही नहीं दीखता? क्या उसका पराक्रम सच्चा होता है? क्या उसके मूल में एक नशा ही नहीं होता?

जो मारता है उसको कोई योद्धा कहे, तो मैं उसे बहस का मौक़ा न दूंगा। हरेक को हक़ है कि जहां से उसे स्फूर्ति मिले वहां से ले। जिसमें चाहे, उसी में श्रद्धा रखे। बहस इसमें बेकार है। लेकिन अगर विवेक भी कोई चीज़ है तो मैं कहना चाहता हूं कि जो बिना मारे युद्ध में डटा रहता है, जो अपने को दुश्मन मानने वाले को मित्र मानता है और उसकी दुश्मनी को अपनी अखंड मैत्री से झेलता है, वह प्रवीणतर योद्धा है। प्रवीणतर, और अधिक साहसी, और अधिक विवेकी और अधिक बलवान।

लेकिन करना कहने-सा सीधा नहीं है। जो हमारे खून का प्यासा है उसमें से खून की प्यास निकल जाय और उसमें स्नेह की प्यास पैदा

हो आए, यह काम खेल नहीं है। यह दुस्तर से दुस्तर है और इसके लिए अविराम और दुर्द्धर्ष युद्ध की योग्यता वाले योद्धा की जरूरत है। इतिहास के युग-युग और देश-देश में बहुतेरे लोग स्पर्द्धापूर्वक बढ़कर इस मोरचे को लेने पहुंचे; लेकिन बिरले वहां ठहर सके। असंख्य बीच में टूट गये और दुश्मन के हाथों खेत रहे। इस युद्ध में दुश्मन की उसी क्षण विजय हो जाती है जिस क्षण कि योद्धा में दुश्मनी का ख्याल भी आ जाता है। मैं मानता हूं कि जिसने यह युद्ध जीता, उसे फिर जीतने को कुछ भी बाकी नहीं रह गया। और जीवन में कर्म शव हैं तो इसीलिए कि इस युद्ध में अभी विजय पाना हमारे लिए शेष है। इसके अतिरिक्त और कुछ करना धरना नहीं रह जाता।

लेकिन शब्दों को लेकर हम भाग न छूटें, और न उड़ें। न समझ लिया जाय कि व्यक्ति अंतिम सत्ता है और उसकी अपने में अलग कोई मुक्ति हो सकती है। मरता आदमी अपने से है, जीता साथ-साथ है। मौत को छोड़ कहीं वह अकेला नहीं है। सो मुक्ति अगर है तो सबकी साथ है। इससे ऊपर व्यक्तिगत आदर्श की स्थापना नहीं की गई है। व्यक्तिगत भाषा का प्रयोग हां अवश्य है। व्यक्ति इकाई है और जो चेतना मानवतल पर हमें प्राप्त है, उसमें इस इकाई के आधार से छुट्टी तो पूरी तरह है ही नहीं, इस मर्यादा को किसी वाद में कृपया हम न भूलें।

युद्ध की परिभाषा में ही जीवन का देखना क्यों जरूरी है, उसका कारण है।

उस कारण को तात्विक रूपमें तो यों कहिए कि दो एक तबतक नहीं हो सकते, जबतक वे अपने दो-पन को, यानी अपने ही भीतर के और आपस के द्वित्व को जीत नहीं लेते। हरेक को अपना अपनापन ही सिद्ध है। लेकिन वह अपनापन हरेक की मर्यादा भी है। गति का अर्थ विस्तार है। विस्तार में अपनी ही मर्यादाओं के प्रति असंतोष और युद्ध गर्भित है। जहां ऐसा असंतोष और युद्ध नहीं, वहां जीवन भी फिर नहीं है। वहां प्रगति, उन्नति, विस्तार, सबके द्वार बंद हैं। जीवन का लक्षण है

विस्तृति की निरंतर चेष्टा, निरंतर गति । गति की संभावना में विरोध और युद्ध आ ही जाता है ।

इसी तात्विक बात को व्यवहार के तल पर प्रत्यक्ष बनाकर हम समझ सकते हैं । जिसके पास निषेध के लिए कोई आधार नहीं रह गया है, सब ग़लत मानों उसके लिए सही भी है और सब सही ग़लत; जिसमें पृथक्करण की विवेक शक्ति नहीं रह गई है; जो समन्वय में अन्वय की शक्ति खो बैठा है; जो किसी का वर्जन और किसी (बात) का साग्रह स्वीकार नहीं कर सकता, ऐसा व्यक्ति एकदम निष्क्रिय और जड़वत् रहता है । वह सूखकर बेकाम हो जाता है ।

और 'धर्म' में इस तरह का खतरा खूब है । धर्म की आधार रूप है वह चेतना जो खंड में अखंड के लिए बीजभूत है । इससे धर्म का मूल है बिछोह का त्रास और ऐक्य की प्यास । जीवन एक है । जो अखिल है वह ईश्वर । वही है और मैं वह हूं : 'सोऽहं'—धर्म का मूल इस अनुभूति को आत्मसात् करने की अमर प्यास है ।

लेकिन इस अमूल्य अनुभूति के साथ खेल नहीं हो पायगा । इस बारे में अतिशय ईमानदारी भी कम हो सकती है । जरा मोह इस जगह आदमी को नरक में डाल देगा, स्फूर्ति की जगह उसमें जड़ता ला देगा । यह अनुभूति सुलभ होती तो बात ही क्या थी । इसलिए इन (और ऐसे) शब्दों के साथ अत्यन्त सतर्क और सावधान होकर बरतना चाहिए । यहां शब्द शब्द नहीं रहते, आग हो जाते हैं । वे जला दे सकते हैं । और जिसके लिए वह शब्द शब्द ही रह रहे हैं, फिर भी जो उनका व्यवहार करता है, वह कोरा व्यापार रचता है । वह पाखंडी है । उन शब्दों के साथ अत्यन्त विनम्र रहना होगा । 'सोऽहं' पद मान भर लेने के लिए नहीं है । वह तो साधना का इष्ट है । उसमें तो आशय है कि मुझे वह (यानी, उसके जैसा और निकट) प्रतिक्षण होते रहना चाहिए । अगर 'सोऽहं' भाव मेरे ऊपर सवार हो जाता है, साधना का मंत्र नहीं बल्कि एक व्यामोह बन जाता है, तो उससे जबरदस्त अनर्थ होकर ही

रहता है। ऐसे व्यक्ति में गति बन्द हो जाती है और जीवन मूर्च्छित हो जाता है। और मूढ़जन उसके उदाहरण से और भी मतिमूढ़ बनते हैं।

ईश्वर और सत्य की खोज में निकल पड़े हुए अनगिन व्यक्तियों के साथ, अथवा उनके उपलक्ष से, ऐसी ही दुर्घटना घटित हुई है। ईश्वर की सर्वव्यापकता को आत्मा के भीतर क्रमशः उत्तरोत्तर उपलब्ध न करके उन्होंने हठात् सब को एकाकार देखने के आग्रह में कर्म-अकर्म के अंतर को ही अपनी विवेक शक्ति में से लुप्त कर लिया है। ऐसे लोग कठोर तपसी हो गये हैं। जग उन पर विस्मित होता हो, लेकिन असल में तो ऐसे विमूढ़ता ही हाथ लगती है। ऐसे लोगों ने उस राह स्वयं चैतन्य का लाभ कर पाया, अथवा चैतन्य प्रदान किया, इसमें मुझे भारी सन्देह है।

उन्होंने जीवन संबंधी अपनी धारणाओं में युद्ध-तत्व के लिए अवकाश नहीं छोड़ा। उन्होंने हठात् चाहा कि वे ऐक्य प्राप्त करें; लेकिन अनैक्य को, जो उनके भीतर था, उन्होंने ललकार नहीं दी। उससे युद्ध नहीं किया; बल्कि उसे पुष्ट किया। सूफ़ी और वेदांती कवि लोग ऐक्य के ऐसे स्वप्न में खो गये कि उस स्वप्न को तत्पर आचरण द्वारा सत्य करने की आवश्यकता की सुधि उन्हें न रही। परिणामतः उनका जीवन, निर्दोष तो वह रहा भी होगा, पर वेगवान और सशक्त नहीं हुआ। पराक्रम उनमें नहीं दीखा। समाज ने कोई स्फूर्ति और प्रेरणा उनसे नहीं पाई। उनकी जीवन नीति में युद्ध-तत्व की कमी रह गई।

बुराई है, अनीति है—उसका अस्वीकार करने के लिए ही हम हो सकते हैं। अस्वीकार करना, यानी जिसको बुराई और अनीति माना है उसके आगे कभी न झुकना, यह हमारी स्थिति का आधार है। अगर हमारे लिए बुराई कुछ नहीं रह गई है और बुरा कुछ नहीं रह गया है, तो हमारे होनेकी आवश्यकता ही नहीं रहती। यह अवस्था तो व्यक्ति की नहीं आदर्श की है। परमात्मा की यह स्थिति है। उस आदर्शलोक में तो असत् को भी सत् और पाप को भी धर्म ही थाम रहा है, यह असं-

दिग्ध है। पर वह कैसे थाम रहा है? पाप में धर्म और असत् में सत् कैसे व्यापा हुआ है?—इसका जवाब पा लेना मानव नहीं रहना है, ईश्वर बन जाना है। इस प्रश्न का हठात् उत्तर देने का उत्साह धृष्टता है और बुद्धि का विकार है। वह भयंकर है। वह प्रश्न सदा के लिए प्रश्न है। जब तक काल है, तब तक वह है। किसी उत्तर से उसका मुंह बन्द नहीं हो सकता। जीभ से उसका उत्तर दे डालना, अथवा बुद्धि द्वारा समाधान पा लिया जैसा अपने को समझ लेना, अनर्थकारी है। मोक्ष में सच्चा उत्तर और सच्चा समाधान है और मोक्ष से पहले कहीं वह उत्तर भी नहीं है।

जब तक व्यक्ति है तब तक उसके लिए असत् रूप कुछ न कुछ है। इसलिए सत्‌रूप धर्म व्यक्ति के लिए हमेशा युद्धमय होता है। असत् से युद्ध, पाप से युद्ध, अंधकार से युद्ध, अनात्म से युद्ध।

युद्ध इसलिए धर्म है कि हम अपूर्ण हैं। और इसलिए धर्म है कि सम्पूर्ण हमें होना है। जो युद्ध से बचा, वह या तो मोहयुक्त है और अपनी अपूर्णताओं से असन्तुष्ट नहीं है, या इतना जड़ है कि सम्पूर्णता की अभिलाषा उसमें नहीं है।

इसलिए बड़े से बड़े के लिए अनन्त काल तक प्रार्थना का अवकाश है और यह आग्रह खतरे से भरा है कि मैं वह हूं, क्योंकि वह मैं है; और क्योंकि वह ईश्वर सब कुछ है, इससे मैं सब कुछ हूं। इस तरह व्यक्ति युद्धधर्म से च्युत होता है। वह मानव-विलक्षण भले हो जाय, मानवोत्तम नहीं हो सकता।

किन्तु युद्ध धर्म है तो तभी जब वह धर्मयुद्ध हो, अर्थात् वह प्रेम से लड़ा जाय। जो प्रेम से नहीं लड़ा जाता, वह युद्ध खरा नहीं है और शाश्वत भी वह नहीं है। उससे थकान चढ़ती है और अवसाद हो आता है। अप्रेम वाले युद्ध के लिए नशे वाला उत्साह चाहिए। नशा उतर जाने पर उससे अरुचि होने लगती है। वैसे युद्ध में विवेक नहीं निभता और उसमें लड़ने वाले का अन्तःकरण, चाहे नशा कितना ही तीव्र हो

भीतर ही भीतर उसे कचोटता रहता है। इसलिए खूनी युद्ध का योद्धा पूरा निर्भय नहीं हो सकता। वह औरों की जान लेने के बारे क्रूर हो सकता है, पर अपनी और अपनों की जान जाते वक्त वह घबराए बिना नहीं रह सकता। अपनी और अपने पुत्र कलत्र की मौत को अडिग भाव से सहने की सामर्थ्य उसमें नहीं होती। ऐसे वक्त वह हिल ही आता है। ज़रूर कोई मौक़ा आता है जब नशे पर टिकने वाला उसका युद्धोत्साह टूट कर धूल में मिल जाता है और उस समय वह बेहद दयनीय हो आता है। बड़े-बड़े शूरवीर समझे जाने वालों की जीवनी में इस सचाई के प्रमाण मिलते ह। मारने की शक्ति में बढ़ा चढ़ा हुआ योद्धा, एक जगह आकर सब सुध बुध बिसार रहता है और अपनी मौत के आमन-सामनें होकर उसका योद्धापन नहीं टिक पाता। ऊपर की अकड़ चाहे तब भी बाक़ी रहे; लेकिन भीतर से वह कातर बन आता है।

परंतु जो युद्ध को धर्मयुद्ध बना कर उसमें जूझता है, जो बुराई से इस निमित्त लड़ता है कि बुरे समझे जाने वाले को मन से प्रेम करता है, ऐसा योद्धा हार कर भी नहीं हारता, और जीत कर भी नहीं फूलता। मौत उसके लिए हिसाब की चीज़ हो नहीं है। जैसा जीना वैसा मरना। वह जीवन के लिए मौत स्वीकार करता है और मौत को अंत नहीं मानता। वह दूसरे के हित में अपने को इतना अर्पित कर देना चाहता है कि अलग होकर स्वयं कुछ रहे ही नहीं। उसका युद्ध कभी नहीं चूकता और थकने की, या हटने की, या रुकने की उसे पल की भी छुट्टी नहीं है। वह पैसे का योद्धा नहीं, प्रकृति का योद्धा है और सोते जागते हर घड़ी उसकी ड्यूटी है। युद्ध वही असली है जो जाने कब से हो रहा है। समूचा इतिहास उसीका इतिहास है। उसमें विराम नहीं, अंतराल नहीं। आत्म से अनात्म का वह युद्ध है। प्रत्येक का जीवन मानो उसी का परीक्षण है। जीवन में हरेक की उतनी ही सार्थकता है, जितनी दूर वह उस युद्ध को आगे तक ले जाता है। योद्धा गिरते हैं, दाएं बाएं हर

घड़ी वे सांस लेते और छोड़ते जा रहे हैं। लेकिन युद्ध कब रुकता है ? वह चलता ही जाता है।

युद्ध धर्म है और जीवन कुरुक्षेत्र है। वही कुरुक्षेत्र फिर धर्मक्षेत्र है। युद्ध से विहीन धर्म विलास है और धर्म से हीन युद्ध नृशंसता है। युद्ध वाला धर्म और धर्म वाला युद्ध व्यक्ति के साथ शाश्वत भाव से लगा है। जो युद्ध धर्म से अलग हो जाता है, या जो धर्म-युद्ध से जी चुराता है, वे दोनों ही सदोष हैं। लेकिन जहां दोनों का समुच्चय और समन्वय है, वहां सचाई है और वही जीवन की सिद्धि का मार्ग है।

निषेध बहुत आवश्यक है। एकदम ज़रूरी है कि ज़हर को हम ज़हर जाने और न खायें। अमृत और विष में अंतर है, और उस वक्त तक रहेगा, जब तक कि हम ही व्यक्ति से कुछ और नहीं हो जाते। भेद मात्र माया है और अभेद ही सत्य है, यह मान कर अमृत और विषमें भेद करने से छुट्टी आज हम नहीं लेसकते। वह अवस्था जहां विषमें विषपन न रहेगा और जहां अमृत को अमृत समझने की आवश्यकता अशेष हो जायगी, वह ब्रह्मलीना की अवस्था है। कल्पना से संभव हुए उसे मान सकते हैं और साधना की उत्तरोत्तर पूर्णता में उत्तरोत्तर सत्य भी उसे बना सकते हैं; लेकिन अपने को भूल कर हठात् उसे इसी क्षण हम नहीं अपना सकते। ऐसा करना जान खोना है।

और ऐसा किया जाता है। चेतन हो कर मानो आयास पूर्वक लोग हैं जो जड़ बनते जाते हैं। जगत मिथ्या है, वास्तव सब माया है—यह कह कर उस वास्तव जगत के परिबोध से वे अपने को मूंद ले रहे हैं। इंद्रियों को कुचल रहे हैं जिससे कि जगत का बोध ही उन्हें न व्यापे ! लेकिन यह अनिष्ट है। इससे जगत नहीं मिटता। अपनी बोध-शक्ति ही ह्रस्व होकर मिट्टी हो रहती है।

इससे संन्यास कर्म से संन्यास नहीं है और कर्म मात्र युद्ध है। युद्ध मन में स्फूर्ति भरता है। वह हमको एक लक्ष्य देता है। उससे चैतन्य

उभरता है। रगों में फड़क पैदा होती है। उसको सामने लेकर शक्ति और विवेक जागता है।

नहीं तो मन सुस्त हो रहता है। करने योग्य कुछ लगता नहीं। कल्पना में विलास मालूम होता है और इस तरह धीमे-धीमे उस कल्पना की भी सृजनशक्ति नष्ट हो जाती है। रस जीवन में सूखता जाता है। और प्रतीत होता है कि जो है वही होनहार था और जो होनहार है वही होगा। यह कि हम होनहार को स्वयं लाने और करने में सक्रिय रूप से सहभागी हैं, यह चेतना मंद हो जाती है। हम भाग्यवान नहीं, भाग्याधीन बनते हैं। स्वावलंबन हमसे खोजाता है और भवितव्य पर आस लगाये बैठना शेष रह जाता है। जो भाग्य को सहारा नहीं देता, उसके सहारे की आस में रहता है, वह निश्चय भाग्यहीन है। भाग्य तो है, असल में वही है। लेकिन वह हमारा कब नहीं है? और अगर वह हमारा है तो हमारा उस भाग्य के साथ संबंध निष्क्रिय नहीं हो सकता है। भाग्य इतिहास को बनाता है, या इतिहास ही भाग्य का रेखाचित्र है,या कुछ कह लो,इतिहास युद्ध की कथाओं से भरा पड़ा है। जो भाग्य को मानता है और जानता है, अगर उसका मानना और जानना सच्चा है तो वह व्यक्ति ऐतिहासिक और योद्धा हुए बिना कैसे रहेगा? वह वह पुरुष युद्धमय होगा और भाग्यमय होगा। भाग्यमय, यानी मानवीय इतिहास की दृष्टि से भाग्यविधाता।

: १२ :

न्याय

हमारे बीच में एक संस्था है न्याय। वैधानिक उसका स्वरूप है लॉ–कोर्ट यानी अदालत। यह संस्था मनुष्य-समाज में सन्तुलनको क़ायम रखती है। अपराध की जाँच-परख करती है और उससे समाज को सुरक्षित रखने की व्यवस्था करती है। उस संस्था की पीठ पर शासन की ओर से पुलिस की शक्ति है और क़ानून की शक्ति है। जज और वकील उसी संस्था के सेवक-सदस्य हैं।

यह संस्था शासन-सत्ता (State) का आधार-स्तम्भ है। फिर भी मानो उस संस्था को शासन (Executive) से कुछ अछूता और ऊपर रखा जाता है। कहा जाता है कि न्याय के आगे सब मनुष्य समान हैं। राजा की भी वहाँ वही हैसियत है जो प्रजा का हैसियत है। कानून के आगे ऊँच-नीच का भेद नहीं है।

पर चूँकि सिद्धान्त अपने आप काम नहीं करते, मनुष्यों की मारफ़त व्यवहार में लाए जाते हैं, क़ानून के पक्ष का यह दावा असली अर्थ में कभी पूरा नहीं होता। इसलिए न्याय की वैधानिक संस्था सम्पूर्ण और शुद्ध न्याय नहीं करती; बल्कि मुख्य शासन का समर्थक न्याय करती है। शुद्ध न्याय तो अपने से बाहर किसीका समर्थक है नहीं। वह धर्म का अङ्ग है।

इसलिए देखने म आता है कि मनुष्य जाति के वैधानिक न्याय को समय-समय पर बदलना पड़ा है और उसमें ऐसे लोगों को अपनी जानें

दे-देनी पड़ी हैं जिनको इतिहास ने पीछे जाकर मनुष्य जाति का उपकर्ता और आदर्श पुरुष माना है।

अर्थात् वैधानिक क़ानून के ऊपर भी कोई क़ानून है जिसकी ओर वैधानिक क़ानून को बढ़ते रहना होता है और उस ऊपर वाले क़ानून के आदेश पर वैधानिक क़ानून की अवज्ञा तक हो सकेगी।

इसी बात को समझ कर देखें। देखें कि न्याय कैसे सम्पादित होता है।

एक मित्र जज हैं। मैंने उनसे पूछा कि आप अपराधी को सज़ा देते वक़्त यह फ़ैसला कैसे करते हैं कि अमुक को छः महीने की जेल न देकर एक साल की या तीन महीने की जेल देनी चाहिए?

उनका उत्तर था कि इधर आकर तो वह छः महीने या तीन या बारह महीनों की जेल को अपने मन में कुछ तौलने की ज़रूरत नहीं पाते हैं। शुरू में ज़रूर चित्त इस बारे में सावधान रहता था। ऐसा मालूम होता था कि सज़ा देकर मन पर कुछ बोझ ले लेना होता है। उस वक़्त तीन और छः महीने में सचमुच दुगने का फ़र्क़ मालूम होता था लेकिन अब तो एक आदत है और मन उस पर ठहरता ही नहीं। सिर्फ़ सूझ की बात है। तीन सूझ गये तो तीन महीने, छः सूझ गये तो छः महीने। काम इतना रहता है कि हम किसी एक केस पर रुक नहीं सकते भाई।

मैंने कहा कि कैदी के दिन जज के दिनों जैसे नहीं होते। कैदी के एक दिन में वज़न होता है। जज के दिन इतने हलके हो सकते हैं कि बेहद। मैं कैदी रह चुका हूँ, इसलिए कहता हूँ। जेल से बाहर की जजी में उन दिनों के भार का अनुमान नहीं हो सकेगा।

जज बोले कि हाँ, यह सही हो सकता है। लेकिन न्याय करते समय हमें वह सब ख्याल रहने का मौक़ा नहीं है।

मैंने कहा कि क्या अभियुक्त की इन्सानी हैसियत का उस वक़्त आपको ध्यान रहता है? उसके बाल हैं, बच्चे हैं, सुख-दुःख मानने

वाला मन है, परिवार है। ठीक जैसे हम-आप इन्सान हैं, वैसे ही वह हैं-यह ध्यान आपको रहता है ?

उन्होंने कहा कि इधर आकर तो बिल्कुल उस तरह का ख़्याल नहीं आता। बल्कि अभियुक्त होकर व्यक्ति व्यक्ति रहता ही नहीं। वह एक अदद, मानो एक अङ्क हो जाता है।

मैंने कहा कि फिर तो वह न्याय नहीं हुआ !

उन्होंने कहा कि जो हो, अदालत वाला न्याय उससे ऊँचा नहीं है। और दैवी न्याय की बात करने से यहाँ दुनिया में फ़ायदा क्या है ?

मैंने सुझाया कि अभियुक्त बन कर मैं आपकी अदालत में पहुँचूं तो क्या मेरी इन्सानी हैसियत किसी तरह भी आपके मनमें हिसाब के हिन्दसे जैसी शून्य हो सकती है ? आपकी स्त्री मेरी स्त्री को जानती है; बच्चे साथ रहे हैं; हममें दोस्ती है। मैं तो आपके लिए एक अङ्क जैसा नहीं हो सकता न ? इससे क्या यह ठीक है कि अदालत के आगे सब अभियुक्त समान हैं ?

मित्र बोले कि क़ानून में सब समान हैं। लेकिन मनुष्य तो मनुष्य है।

ख़ैर, उस समय से मैं जानता हूँ कि क़ानून और न्याय के आगे सब मनुष्य एक समान नहीं हैं। जज की बराबरी की हैसियत का आदमी जज के मन में जो हमदर्दी पैदा करेगा, निम्न वर्ग के लिए जज में वह सहानुभूति न होगी। समाज के एक विशेष वर्ग के लिए जज में अपनेपन का भाव रहता है। उस वर्ग के अभियुक्त के लिए उसके मन में संवेदन है। उससे नीचे वाले वर्गों के आदमियों को वह आदमी तक माने बिना अङ्कों के समान उनका निबटारा कर सकता है। विधान एक मशीन है। उसका माँग है कि जज दिन में बीस या पचीस या इतने केस निबटा दे। सो गिनती की तरह वह उन्हें पूरा करता है। पर क्या इस विधि से न्याय पूरा होता है ?

पर जो हो, इस प्रकार के न्याय से भी समाज को चलने में सुविधा होती है। ऐसे व्यवस्था तो रहती है। नहीं तो बन्ध टूट जाएँ और काम

फिर कोई हो भी तो न सके। आखिर न्याय को भी दुनियावी हिसाब निबाहना होगा। एक साल में इतने हजार केस हैं और इतने दर्जन जज हैं, तो हिसाब से मालूम हो सकता है कि हर जज पीछे एक दिनमें कितने का औसत पड़ा। जज इतना काम पूरा न करे तो दुनिया का हिसाब उलझ जायगा कि नहीं ?

इन्साफ़ की जो अदालतें बैठी हुई हैं, बेशक उनका काम रुक जाना तो इष्ट नहीं है। लेकिन मुझे कहना है कि यह देखते रहना बहुत आवश्यक है कि उनसे अधिकाधिक न्याय मिलता है, खानापूरी ही नहीं होती। तदनुकूल उस संस्था का भङ्ग नहीं, पर विकास तो चाहिये।

और विकास की दिशा यह है कि मुजरिम और मुंसिफ दोनों में सामाजिक हैसियत की विषमता न समझी जाय, न रहने दी जाय। उनमें समकक्षता हो। उससे आगे, भरसक, दोनों परस्पर निकट-परिचित हों बल्कि भाई-भाई सरीखे हों।

जहाँ जज की कुर्सी पर बैठा हुआ व्यक्ति परिस्थितियों के कारण लगभग बाध्य हो कि वह अभियुक्त के कठघरे में खड़े हुए आदमीको बिल्कुल जान और समझ न सके; जहाँ उन दोनोंके बीच ऐसी गहरी सामाजिक विषमता की खाई खुदी हो अथवा कि जहाँ न्याय की संस्था को इतना अधिक केन्द्रित बना दिया गया हो, वहाँ न्याय के न्याय रहने की सम्भावना कम होती जाती है। यहाँ तक कि ऐसी हालत में अदालत सरकार का अङ्ग ही हो जाती है, उस पर वह अंकुश की तरह बिल्कुल काम नहीं करती। यह न्याय और शासन दोनों का अपमान है।

न्याय के न्याय होनेके लिए आवश्यक है कि वातावरण में सहानुभूति हो और भाई-चारा हो। वर्ग-वर्ग के बीच आर्थिक-विभाजनकी, रहन-सहन की और रीति-नीति की समता हो। जज जिस समाज का है, अभियुक्त उसी समाज का अङ्ग हो। अर्थात् न्याय के लिए समाजिक परिस्थिति ऐसी हो कि अभियुक्त के प्रति जज में संवेदन-शून्यता की सम्भावना कम से कम हो। मनुष्य पदार्थ नहीं है और जब पदार्थ की तरह उससे

व्यवहार किया जायगा, तब मनुष्यता नहीं बढ़ेगी और सुव्यवस्था का बढ़ना भी भ्रम होगा।

इस लिहाज से वैधानिक क़ानून की धाराओं की गिनती और मुटापा बढ़ने से न्याय की जटिलता तो बढ़ती हो, और चाहे उसकी महिमा भी बढ़ने सरीखी मालूम हो, पर इससे उसकी उत्तमता नहीं बढ़ती। वह ऐसे दुर्लभ होता है। और जिसमें भीतर संवेदन नहीं है, वह न्याय होकर भी न्याय नहीं है।

अभियुक्त की जगह जो प्राणी खड़ा है, उसके नित्य-नैमित्तिक सामाजिक जीवनकी परिस्थिति को अनुभव द्वारा समझे बिना उसके सम्बन्ध में कोई न्याय कैसे किया जा सकता है, मेरी समझ में नहीं आता।

उसी तरह यह भी आवश्यक है कि जज जिस जेल में अभियुक्त को भेजता है, अनुभव द्वारा वह वहाँ के क़ैदी के जीवन को जानता हो। उस जीवन को बिना जाने जो जेल की सज़ा दी जाती है, वह अपराधी को अपराध वृत्ति को कम नहीं कर सकती। बल्कि, जैसा देखा जाता है, उसकी जड़ों को मज़बूत ही करती है। जेलसे निकलकर जो और भी पक्का अपराधी नहीं बनता, वह नहीं बनता तो सिर्फ़ डर के मारे। भीतर से तो उसके सदाके लिये ही अपराधी ही रहने की सम्भावना बढ़ जाती है। और जो केवल भय के कारण अपराध- कर्म से रुका रहता है, उसमें नागरिकता का विकास नहीं हो सकता। वह हमेशा के लिये खतरा है। नागरिकता का अर्थ है स्वेच्छापूर्वक पड़ौसी के प्रति अपना कर्त्तव्य-पालन। वह न्याय जो व्यक्ति में उस कर्त्तव्य की सम्भावना को नहीं बढ़ाता, केवल रोक-थाम करके अपराधों की गिनती को बचाता है, वह न्याय नहीं है। वह तो पुलिस के हाथ मानवता को सौंप देना है। जज को पुलिस-इन्सपेक्टर का काम करके सन्तुष्ट नहीं होना चाहिये। अपराधोन्मुख को अगर न्याय-दण्ड द्वारा सिर्फ़ जैसे-तैसे अपराध-कर्म से वंचित रखा जाता है, उसकी अपराध-वृत्ति के ही शमन करनेका भी उससे कुछ उपाय नहीं होता, तो कहना चाहिये कि उस न्याय से न्याय की अर्थ-सिद्धि तो किञ्चित्

नहीं होती, उससे केवल पुलिस-कर्म होकर रह जाता है।

न्याय की संस्था दण्ड देकर अपने कर्त्तव्य से उऋण नहीं हो जाती। बल्कि दण्ड की सम्भावना को उसे कम करने में प्रयत्नशील होना चाहिये। न्याय की संस्था की सफलता इसमें जाँची जा सकती है कि उसका काम घट रहा है या बढ़ रहा है। जितनी अपराध-वृत्ति घटती है न्याय को उतना ही सफल मानना चाहिये। जेलखाने अन्याय के सूचक हैं। मगर अपराध एक सामाजिक रोग है तो जेलखाने अस्पताल की भाँति होने चाहिये और क़ैदी को रोगियों की-सी सुश्रूषा और सहानुभूति मिलनी चाहिये।

इस भाँति न्याय मानवीय सहानुभूति के ही वातावरण में मिल सकता है। आदमी और आदमी के बीच क़ानूनकी जटिलता की जितनी कम दूरी हो, न्याय के लिये उतना भला है। तब सहानुभूति उतनी ही कम दुर्गम होगी। क़ानून की किताबों की तह-की-तह मानों बीच में खड़ी हो कर व्यक्ति रूप से जज को और अभियुक्त को अलग-अलग दो कक्षाओं में डाल देती हैं। फ़ैसला तब क़ानूनी होता है और हार्दिकता उसमें कम रह जाती है। इस प्रकार न्याय की मशीन तो झटपट और तेज़ी से चल सकती है, लेकिन मानव जातिमें कोई समुन्नति नहीं हो सकती।

लेकिन उसके विरोधमें उन जज मित्र ने अपने एक अनुभवका हवाला दिया। कहने लगे कि आपके मतलब का न्याय शायद पञ्चायती न्याय है। पञ्चायत में सब एक दूसरे को जानते हैं। फिर भी पञ्च की हैसियत से वे लोग कुछ अपने से ही ऊँचे उठ जाते होंगे, ऐसी प्रतीति रखी जाती है। पञ्चों का वादी-प्रतिवादी दोनों पक्षों के साथ भाई-चारा होता है। इस प्रकार उचित न्याय की अधिक आशा है, यही आपका आशय है न? लेकिन पञ्चायत का प्रयोग किया गया है और बिल्कुल असफल हुआ है। सरकार ने पञ्चायत के पीछे अपना क़ाननी सरक्षण तक दिया। पञ्चायत के फ़ैसले की अपील नहीं थी और उसका पालन अनिवार्य बना दिया गया था लेकिन पञ्चायत पर स्थानीय लोगों का विश्वास जम

ही नहीं सका। गाँव के लोग अपने में से किसीको चुन कर मुखिया नहीं बना सकते। वे अपने ऊपर बना-बनाया एक अफ़सर चाहते हैं। यह तो हालत है भाई। इससे उस प्रयोग को अब छोड़ना पड़ रहा है।

इस सिलसिले में उन्होंने एक प्रसिद्ध पुरुष का नाम लिया। इन व्यक्ति की प्रामाणिकता सन्देह से परे थी। उनका जीवन निःस्वार्थता का जीवन था। लेकिन अपने हल्के की पंचायत के सरपंच की हैसियत से लोग उनका विश्वास करने के लिए तैयार न थे। जज मित्र ने बताया कि वह एक बार दौरे पर गये। वहाँ उनके सामने मामला पेश हुआ और स्थानीय पंचायत के सब पंच आये। फ़ाइलों के काग़ज़ों में जब हमारे जज मित्र ने सरपंच का नाम ा तो संभ्रम में रह गये। क्या यही व्यक्ति वह प्रसिद्ध आचार्य हैं, जिनके उदार चरित्र की छाप बचपन से उनके मन पर अंकित है? लेकिन देखा गया कि उन आचार्य की असंदिग्ध प्रामाणिकता और सात्विक सादगी मामले के निबटारे में कुछ काम नहीं आरही है। उन (सरपंच) का फैसला लोगों को मान्य नहीं होता है। और वादी-प्रतिवादियों में से एक दल उन पर सङ्गीन आरोप तक लगाता है।

ख़ैर, उस मामले को न कुछ देर में हमारे जज मित्र ने रफ़ा-दफ़ा कर दिया। बात ज़रा-सी थी और ज़रा में हल हो गई। वादी-प्रतिवादी दोनों को उन जज का न्याय मान्य हुआ।

"अब" उन जज-मित्र ने कहा, "मुझ में आचार्यजी के मुकाबिले में कुछ भी तो निःस्वार्थता नहीं है। व्यक्तिगत हैसियत से मैं उनसे कहीं हीन हूँ। पर मैं मामले को सुलझा सका, आचार्यजी कुछ नहीं कर सके। सो क्यों? कारण एक तो यह कि मैं उन गाँव वालों के निकट बिल्कुल परिचित नहीं था। व्यक्तिगत हैसियत से मैं उनसे एक दम अलग था और वह मुझ से दूर थे, इससे मेरी तटस्थता में उनको संदेह नहीं था। जब कि आचार्यजी उनके पास के होकर अपने सम्बन्ध में उतनी तटस्थता का आश्वासन गाँव वालों को नहीं पहुँचा सकते थे।

दूसरा कारण शायद यह कि मैं अफ़सर था, जब कि आचार्यजी उन्हीं में के एक थे। इसलिए न्याय को जैसा हार्दिक वातावरण देकर आप सुगम बनाना चाहते हैं, उस तरह वह दुर्गम बनता है। न्याय की एक वैधानिक और केन्द्रित संस्था होने से वह सशक्त बनता है। न्याय में तटस्थता चाहिये और न्यायाधीश स्थानीय परिस्थिति से ऊंचा और विशिष्ट हो तभी तटस्थता रह सकती है। क़ानून की संस्थाओं से पेचीदगी बढ़ जाती है; लेकिन न्याय में तटस्थता सुरक्षित रहती है। न्याय में भावुकता को अवकाश नहीं है।"

जज-मित्र की बात को एकाएक काटना मुश्किल है। यह बेशक आज की एक सचाई है। 'घर का जोगी जोगना' रह जाता है, 'आन गांव का सिद्ध' समझा जाता है। दूरी पैदा होने से मोह सम्भव होता है, पास होने से वह मोह कट जाता है। और मोह में प्रभाव है। आदमी आदमी में मोह के कारण ही भेद मानना सम्भव होता है। राजा हम से बहुत दूर है। हम दोनों में अन्तर डालने के लिए न जाने कितनी विभूति बीच में मौजूद है। हम कच्चे घर में रहते हैं और राजा जिस महल में रहता है, उसकी जाने कितनी ड्योढ़ियाँ हैं, कितने परकोटे हैं। उसका दर्शन दुर्लभ है, ऐसा है तभी तो राजा का राजापन कायम है। यह कृत्रिम दूरी बीच में न हो तो राजत्वका प्रभाव भी क्या शेष रह जाय? इसलिए जिसको केवल उसकी महिमा से जानते हैं, उस दूर के राजा का तो हम पर असर हो सकता है। पर जो पड़ौस में रहता है, हर घड़ी और हर काम में जिसका साथ हमें सुलभ है, उसका प्रभाव हम पर किस तरह कायम रह सकता है?

इसलिए अगर न्याय सम्भव बनाना है तो अभियुक्त और जज में अन्तर डालने के लिए एक कृत्रिम संस्था की आवश्यकता है। नहीं तो, दबाव नष्ट हो जायगा और अभियुक्त खुद जज होने का दावा कर सकेगा।

मझको प्रतीत होता है कि इस ऊपर के तर्क में बल है अवश्य।

लेकिन यह तर्क स्थिति का तर्क है। प्रगति का सत्य इसमें नहीं है।

क्या वर्तमान ही अन्त है ? कायम रहना भर ही सब कुछ है ? या कि भविष्य का भी सत्ता है ? और उसकी ओर सचेष्ट होकर हमें चलना है कि नहीं ? क्या मानव अचल है ? या फिर वह विकास-शील है तो उसकी संस्थाएँ भी स्थिति के तर्क से घिर कर नहीं रह सकतीं । उन्हें गति के तत्व को अपनाना होगा। इसलिये हाईकोर्ट की इमारत बहुत ज़बर्दस्त और मज़बूत हो, न्याय के लिए यही काफ़ी नहीं है। बल्कि वह न्याय स्वयं विकास-शील हो, यह भी आवश्यक है।

न्याय का विकास दण्ड से क्षमा की ओर है,जैसेकि मनुष्य का विकास क्रूरता से करुणा, शत्रुता से मैत्री और अहंकार से उत्सर्ग की ओर है।

समाज में स्थिति-भंग न हो, न्याय का लक्ष्य यहीं आकर नहीं रुक जाता। उस समाज में जीवित एकता व्याप्त हो, यह भी न्याय का ही साध्य है। इससे जो न्याय अपना दायित्व तात्कालिक समाज-स्थिति (Status Quo) के प्रति ही मानता है, अर्थात् जो उस वक़्त के क़ानून से घिर जाता है, वह असल अर्थ में न्याय की माँग पूरी नहीं कर सकता।

गहराई से देखा जाय तो इस प्रकार के न्याय की संस्था तात्कालिक शासन के शुद्ध समर्थन में बनती है। वह पक्षगत है। वह सब के प्रति एक-सी हो नहीं सकती। जो दल या वर्ग शासनारूढ़ है, संस्थाबद्ध न्याय उस वर्ग के पैरों को छूता है, जब कि और वर्गों के वह सिर पर बैठता है। उसके अन्तरङ्ग में समभाव नहीं, विषम-भाव होता है। वर्ग हित से वह प्रभावित है। उसकी तटस्थता साधक की तटस्थता नहीं है, मशीन की तटस्थता है। उसमें अगर व्यक्ति और व्यक्ति में फ़र्क नहीं किया जाता तो कबेले में मशीन की छुरी की धार अपने नीचे पड़े हुए गाय और बकरी के सिरों में ही कब फ़र्क करती है ?

इसलिए न्याय में क़ानून के सहारे आसानी से सध सकने वाली तटस्थता कोई श्रेय वस्तु नहीं है। वह क्रूरता भी हो सकती है। व्यक्ति

उसमें अङ्क बन जाता है और न्यायकर्त्ता उससे जड़ बनता है। उसमें सहानुभूति मंद होती जाती है, यहाँ तक कि न्यायाधीश व्यक्ति रहता ही ही नहीं, बस एक मशीन का पुर्जा हो जाता है। वह हृदय से काम नहीं लेता, स्टेट की बनाई दण्ड-विधान की पोथियों से काम लेता है। व्यक्तिगत रूप से वह बहुत मीठा है, बहुत सज्जन है, और अतिशय धार्मिक है। लेकिन जज होकर वह जड़ है, वह पोथी का बंधुआ है और अपनी कुर्सी पर मानो वह अपने हृदय को बाद देकर बैठता है।

"लेकिन," जज-मित्र ने कहा "आप कहते क्या हैं? हम लोग हृदय की बात सुनें तो कुछ कर नहीं सकते। ऐसे दुनिया में काम कैसे चल सकता है?"

मैंने कहा कि हृदय की बात नहीं सुनकर आखिर आप किस की बात सुनना और मानना चाहते हैं? जो वेतन देता है क्या उसकी?

जज-मित्र मेरी ओर देखते रह गये।

"मुझे इसमें आपत्ति नहीं" मैंने कहा "आप वेतन-दाता की बात सुनिये। बल्कि वह तो वफ़ादारी है। लेकिन उसकी बात ही न्यायकी बात है, यह मुझे मानने के लिए आप कैसे कह सकते हैं?"

उनका मत हुआ कि ऐसे दुनिया का काम नहीं चल सकता

मैंने कहा कि जज कोई न हो तो बेशक दुनिया का काम नहीं चल सकता। लेकिन आप जज न हों, तब तो दुनिया का काम शायद चल सकता है। यों कहिये कि जज हुए बिना पहले तो आप ही का काम नहीं चलता। आपको बारह सौ रुपये मासिक मिलते हैं न?

मित्र बोले कि मैं बारह सौ छोड़ता हूँ। मुझे उस काम में कोई रस नहीं है। चलो, आप मुझे पाँच सौ ही माहवार दे देना। आखिर बाल-बच्चे तो पलने चाहियें।

मैंने कहा कि बारह सौ माहवार आप इतने दिनों पाते रसे हैं। अब ग़लत समझ कर उसे छोड़ते हैं तो उस ग़लती करते रहने के लिए क्या आपसे उल्टा और प्रायश्चित्त नहीं माँगा जा सकता? अगर कोई

चीज़ बुरी है तो उसे छोड़ने के लिए क्या आप कोई बदला माँग सकते हैं ? क्या उसका छोड़ देना ही काफ़ी लाभ नहीं है ?

मित्र ने कहा कि यह आदर्शवाद है। व्यवहार ऐसे नहीं चलता।

मैंने कहा कि व्यवहार के चलने की बात पीछे रखिये। अभी तो बाल-बच्चों के नाम पर बारह सौ मासिक लेकर आप जो काम कर रहे हैं, वह समाज ने अपने लिए ज़रूरी बना रखा हो, पर मालूम होता है कि आप उसको उस लायक नहीं समझते। तब तो कहना होगा कि बारह सौ एक दुष्कर्म की रिश्वत के रूप में आप लेते हैं। क्या यह न्याय है ?

उन्होंने पूछा कि आप क्या चाहते हैं ?

मैंने कहा कि मै न्याय को समझना चाहता हूँ। मुझे मालूम होता है कि जब तक आपकी नीतिमत्ता में लोगों का सहज विश्वास नहीं है, आपकी जजी जब तक संस्था-बद्ध है और सरकारी बल पर क़ायम है, तब तक आपका न्याय सन्दिग्ध है। वह तब सरकारी न्याय है, वास्तविक न्याय नहीं है। सरकारी न्याय की ज़रूरत हो सकती है; लेकिन वह ज़रूरत काम चलाऊ चीज़ की तरह की है। उस पर सन्तुष्ट होकर नहीं रहा जा सकता और जो समाजको आगे बढ़ायेगा, वह उस समाज का जज नहीं हो सकता। उसे जन-सामान्य के साथ सामान्य होना होगा। जिससे यह सम्भव हो सके कि आवश्यकता होनेपर,वह जज की कुर्सी के समक्ष प्रचलित क़ानून के विरुद्ध, अभियुक्त के कठघरे में खड़ा हो सके। जो सरकारी पदस्थ के कारण सम्भव बनता है, वह कर्म यथार्थ हित का नहीं हो सकता। गवर्नर गवर्नरी ही कर सकता है, गवर्नर के पद पर बैठ कर कुछ और नहीं किया जा सकता। वह ख़ुद व्यक्ति उतना नहीं हो सकता, जितना गवर्नर होता है। उसकी निजता उतनी स्पष्ट और प्रबल नहीं हो सकती, क्योंकि वह पदारूढ़ है। इससे कुर्सी-वाले न्याय-कर्त्ता से सच्चा न्याय नहीं मिल सकता; क्योंकि वहाँ वह

स्वयं होकर नहीं बैठता, जज होकर बैठता है। आत्मा की आवाज वह उस समय दबा सकता है; लेकिन क़ानून की किताब की आज्ञा उसे माननी होती है।

इस पर मित्र ने बताया कि खुद उनके साथ कई वार ऐसा हुआ है। उनके मन में पक्का निश्चय होगया है कि सही बात अमुक है, लेकिन गवाहों के बयान से उसको साबित करना मुश्किल था। इससे फ़ैसला मन के खिलाफ़ देना पड़ा!

मैंने पूछा कि यह आप लोग कैसे कर सकते हैं?

मित्र बोले कि हम सर्वज्ञ भी तो नहीं हैं। इससे बाहरी बातों के आधार पर फैसला करना क्या बुरा है?

मैंने कहा कि आदमी और आदमी के बीच में सहानुभूति जहाँ नहीं है, केवल कानून ही है, वहाँ न्याय भी नहीं है। आदमी पदार्थ नहीं है। वह दिल रखता है, वही दिल जो कि जज की कुर्सी पर बैठे आदमी के पास है। उसको अलग करके जो किया जाता है, वह न्याय कैसा है?

मित्रने हँस कर कहा कि आप अराजकता तो नहीं चाहते?

मैंने कहा कि मैं प्रेम चाहता हूँ। प्रेम मनुष्यों को फाड़ता नहीं है, मिलाता है। अराजकता में आपाधापी की ध्वनि है। प्रेम में उत्सर्ग है। सरकारी सब कुछ मिटाया नहीं जा सकता। अदालत न रहे तो कौन जानता है कि उससे कितनी न गड़बड़ बढ़ जायगी। लेकिन अदालत के हाकिम से यह ज़रूर मैं कहना चाहता हूँ कि अदालत को अपनेसे सर्वथा सन्तुष्ट नहीं रहना चाहिये। उसके लिये आत्मनिरीक्षण और भी जरूरी है। जज के मन में क्षमा नहीं है और व्यथा नहीं है तो दण्ड देने का अधिकार भी उसे नहीं है। बारह सौ रुपये वाला अधिकार न्याय के मामले में अधिकार बिल्कुल नहीं रहता। जज का अधिकार तो मानसिक और नैतिक ही हो सकता है। और जो उस दृष्टि से अनधिकारी है, वह जज बनकर अभियुक्त के कठघरे में खड़े होने लायक बनता है। क्या आज

आप कह सकते हैं कि कितने जज हैं जो अपने काम में अन्तरात्मा का ख्याल रखते हैं ? नहीं रखते तो क्यों न कहा जाय कि वे अपराधी हैं ? हमारा कानून उस अपराध को नहीं पकड़ सकता, लेकिन क्या सचाई के कानूनसे भी किसी की बचत है ?

मित्र हमारे ईश्वर-परायण और धर्म-भीरु व्यक्ति हैं। वह स्वयं ईश्वरीय न्याय को मानते हैं। लेकिन इस बात में उनको विशेष अर्थ दिखाई नहीं दिया कि जजी दुष्कर्म है। वह मानते हैं कि कर्म वह दायित्वपूर्ण है और बारह सौ मासिक जो उस काम का उन्हें मिलता है, वह भी इस दृष्टि से उचित ही है कि जज जन-साधारण से कुछ विशिष्टता की स्थिति में रह सके। नहीं तो न्याय के लायक तटस्थता उसमें नहीं रह सकती।

मैंने हँस कर कहा कि आप बारह सौ बेशक क्यों छोड़ें। इसमें हम जैसे आपके मित्रों को भी लाभ की आशा है न ?

वह बोले कि यह पैसे की बात नहीं है।

मैंने कहा कि पैसा छोड़ देने पर ही ठीक पता चलता है कि किस बात में कितना पैसे का अंश है। उससे पहले पता नहीं चलता। लेकिन आपकी निश्चिन्तता में भङ्ग नहीं करना चाहता।

····खैर, मित्र जज हैं और अब वह अवकाश लेने वाले हैं। साथ पेन्शन भी लेंगे। मुझे जब मिलते हैं, मानते जाते हैं कि बेशक कानून का न्याय हृदय के न्याय से घट कर है। हम लोग जाने अपने ऊपर कितना अन्याय करके न्यायकर्ता का काम चलाते हैं।

पर न्याय—अन्याय जो हो,आप निश्चय रखिये कि न्यायाधीश का पद जब छूटेगा तभी उनसे छूटेगा। उस पद और उस वेतन को वह मानसिक विश्वास के बल पर छोड़कर समाज में कुछ क्षोभ पैदा नहीं करेंगे। क्योंकि वह ऐसे धार्मिक हैं कि संसार की बातों को विशेष महत्व नहीं दे सकते।

वह जो हो, लेकिन मैं जानता हूँ कि न्याय खरा उसी के हाथों हो सकता है जो व्यक्ति स्वेच्छा से अकिञ्चन हो गया है। जो उसके पास है, बस प्रेम। वही उसका समूचा धन। उस प्रेम में वह अपने का नीच-से-नीच का भी सेवक देखना चाहता है। अपराधी का अपराध वह खुद अपने में देखना चाहता है। इसलिये खुद वेदना लेता है और दूसरे को स्नेह ही देता है।

: १३ :

अहिंसा की बुनियाद

जैन-धर्म को मैं इतना जानता हूँ कि वह आत्म-धर्म है। आत्मा सब में है। सब में परमात्मा है, पर हम में वह मूर्छित पड़ा है। जिन्होंने परमात्मत्व का लाभ किया है, उनमें आत्मा का शुद्ध चिन्मय रूप अपने निर्मल कैवल्य में प्रस्फुटित हो गया है। आत्म-धर्म होकर जैन-धर्म एक ही-सा सबके उपयोग का हो जाता है। इसी से दूसरा इसका नाम अहिंसा-धर्म है। अहिंसा को परम धर्म कहा है। अहिंसा, यानी दूसरे सब जीवों में आत्मोपमता। जो है वह सब में है। जिससे मुझे चोट लगती है, उससे दूसरे को भी त्रास होता है। इससे जो मैं नहीं चाहता कि मेरे प्रति किया जाय, वह मुझे दूसरे के प्रति भी नहीं करना है। अहिंसा की प्राथमिक भूमिका यही है। लेकिन अहिंसा तो परम धर्म है न। इससे जीवन के सतत और चरम-विकास में कहीं उसकी उपयोगिता समाप्त नहीं होती। वह अचल तत्व नहीं, गतिमय और विकासशील धर्म है। उसके प्रयोग को चुकाया नहीं जा सकता। उसमें अनंत संभावनाएं हैं और जब तक व्यक्ति शुद्ध, बुद्ध, मुक्त नहीं हो जाता तब तक अहिंसा का उसे संबल है। यानी दूसरे को दुःख न पहुँचाओ, यहां से अहिंसा शुरू होकर दूसरे के हित में निछावर हो जाओ, इस शिक्षा की ओर अग्रसर होती है। इस दिशा में अहिंसा की मांग बढ़ती ही जाती है। अहिंसक के पास अपनेपन जैसी कोई चीज़ नहीं रह जाती। साँस भी वह अपने लिए नहीं लेता। यहाँ तक कि उसे अपनी मुक्ति का भी कामना नहीं

रहती। प्राणियों की 'आर्ति' को दूर करने में वह काम आता रहे, यही उसकी भावना रहती है। शेष से अलग जैसे उसके पास अपना कोई निजत्व ही नहीं रह जाता। इस तरह उसका जीवन लोक-जीवन के साथ तत्सम होकर विराट हो जाता है। उसका हृदय उत्तरोत्तर शुद्ध होकर इतना ग्रहणशील होता जाता है कि वातावरण में व्याप्त त्रास की रेखा भी उसके चित्त को आंदोलित कर देती है।

इस अहिंसा के धर्म में मेरी निष्ठा है। सचमुच वह ग्रन्थों में से मुझे प्राप्त नहीं हुआ। जीवन में जो असफलताएं, संघर्ष, हीनताएं झेलीं, उन्हीं में से यह दर्शन फूट निकला है।

आज हम जिस समय में रह रहे हैं, साँस भी वहाँ घुटता है। खाना, सोना, रहना सब एक समस्या बना है। बड़े सवालों की बात मैं नहीं करता। राजकीय और अन्तर्राष्ट्रीय मसलों की पेचीदगियों से वे उलझेंगे जो उसमें पड़े हैं। लेकिन हम भी उस उलझन से बाहर नहीं हैं। सात समुद्र पार हो रही लड़ाई से हमारा भाग्य भी हिलगा है। वह लड़ाई अब तो किनारे आ रही दीखती है। पर क्या हमें कुछ अपने भाग्य का निस्तार दीखता है? मानो जीवन की समस्या लड़ाई निबटने पर सुलझेगी नहीं। वह उल्टे कहीं और कसी हुई ही न दिखाई दे। हर चीज़ का मूल्य तिगुना हो गया है। हाँ, सिर्फ पैसे का मूल्य तिहाई रह गया है। समस्या इस पैसे की है। वह सरल और सीधी नहीं है। ज़रूरी चीज़ों के लिये सबके पास ज़रूरी पैसा नहीं है। कहीं वह बहुत है, कहीं वह बिलकुल नहीं है। अनाज खेत मे उगता है, पर पैसा वहाँ पैदा नहीं होता। पैसा ऐसी चीज़ नहीं है कि भगवान के दिए हुए दो हाथों की मेहनत से कोई पैदा कर ले। उसके पैदा करने में कुछ ऐसी चीज़ की ज़रूरत भी होने लगी है, जो भगवान ने नहीं दी। पैसा एक राजनीतिक संस्था है। राजनीति मनुष्य की अपनी बनाई हुई चीज़ है। राजनीति और अर्थनीति को जुड़वां जोड़ी समझना चाहिये। दुनिया का अर्थ-चक्र एक ऐसा यंत्र

है, जिसकी बारीकी और पेचीदगी का तुलना कोई दूसरा यंत्र नहीं कर सकता।

मैं मानता हूँ कि अहिंसा इन प्रश्नों से तटस्थ नहीं रह सकती। वह पानी क्या, जो आग बुझाये नहीं। अहिंसा अपनी निजता के वृत्त में सिद्ध नहीं होती है। मैं अपने प्रति अहिंसक हूँ, इसका कोई अर्थ ही नहीं। उसकी तो सामाजिक और आपसी व्यवहार में ही सार्थकता है। इससे राजकीय और अन्तर्राष्ट्रीय सब सवालों की चुनौती उसे स्वीकार करनी होगी, जो अहिंसा को धर्म मानता है। अहिंसकों को साबित करना होगा कि उनकी अहिंसा इन सवालों की ललकार पर पीछे रहने वाली नहीं है, बल्कि वह उनका सामना और समाधान कर सकती है।

धर्म के भी और सब चीज़ों की भांति दो पक्ष हैं। सत्ता कोई बिना दो सिरों के हो नहीं सकती। धर्म का एक मुख उस सर्वात्म या परमात्मा की ओर है, जो एक, अभिन्न, अखंड है। धर्म का यह पहलू अनिर्वचनीय है। वह चर्चा और विवेचन से अगम है। उसकी साधना एकांत मौन में है। उपासना, पूजा, भक्ति, प्रार्थना सब उसी के ध्यान के रूप हैं। इसमें व्यक्ति अपने को विश्वभाव से देखता है! या कहो कि विश्वात्मा के प्रति समर्पण द्वारा वह अपने को रिक्त करता है। वहाँ शब्द मात्र उपलक्ष है। मूर्ति, प्रतिमा, स्तोत्र, नाम आदि सब बाह्य साधन हैं। नाम कुछ हो, शब्द कुछ हो, उपास्य मूर्ति का आकार-प्रकार कुछ हो, मंदिर कहीं या कोई हो और पूजाविधि भी चाहे जैसी हो, इस अंतर से कोई अंतर नहीं पड़ता। इस अंतर का वहाँ मूल्य नहीं है। वहाँ तो व्यक्ति के निःस्व समर्पण की ही मांग है। इस भक्ति-योग का जहां जितना सद्भाव है, धर्म की वहां उतनी सफलता है।

यह तो धर्म का निश्चय और वैयक्तिक रूप है। वाद अथवा विवाद का यह विषय नहीं है। इसमें व्यक्ति अपने अन्तःकरण या सर्वान्तर्यामी के प्रति ही दायी है। शेष का उसमें कोई दखल नहीं है। यह तो आत्म-शक्ति के संचय का रूप है, प्राण-साधना का विधान है।

किन्तु शक्ति की सार्थकता अपने में तो नहीं है। वह उसके उपयोग में है और यहीं धर्म का दूसरा पक्ष आता है। इसका मुख जगत् की ओर है। सच यह कि धर्म की कसौटी जगज्जीवन है। हमने प्राणों में कितना और कैसा बल प्राप्त किया है, वह धार्मिक है अथवा अन्यथा है, उसकी परख बाहर जन-समाज में हो है। यह जो अपने से पर प्रतीत होने वाला असीम बाह्य जगत् फैला है, क्या वह हमारे अंतर्जगत् से एकदम भिन्न चीज़ है ? सचमुच वह अलग नहीं है। अन्तर और बाह्य में वही संबंध है जो सिक्के के दोनों पहलुओं में है। इससे जीव का लक्षण ही है परस्परोपग्रह। परस्परता वह वायु है, जिसमें जीव पनपता है। अतः आत्मस्थ व्यक्ति का स्वभाव ही है आत्मदान। जिसने अपने को पाया, उसके लिये अनिवार्य हो गया कि वह अपने को दे। सच यह है कि खोकर ही सदा अपने को पाया गया है और सेवा में ही स्वास्थ्य और सामर्थ्य सार्थक हुए हैं।

धर्म के ये दोनों पक्ष परस्पर को धारण करने वाले हैं। वे अन्योन्याश्रित हैं। आध्यात्मिकता जगत् से पराङ्मुख होकर स्वयं दूषित होती है और आत्मा की ओर से विमुख होकर सांसारिकता भी प्रवंचना है। धर्म की साधना में इस प्रकार की एकांगिता आने का सदा खतरा है। विरागी जन मुक्ति की खोज में वन में भटक गये हैं और संसारी जन सुख की तलाश में इस व्यूह-चक्र में ही अटक रहे हैं। एक को भूल कर दूसरे को सिद्धि भला कहां रखी है ? सत्य द्वैत में थोड़े हो सकता है। सत्य तो अद्वितीय और अखंड ठहरा, ऐक्य में से ही उसकी साधना है। जगत् और ब्रह्म उसके निकट दो नहीं हैं। माया भी वहाँ ब्रह्म की ही लीला है।

इसी को जैन-भाषा में कहा जा सकता है। महावीर राज छोड़ वन में चले गये। वहाँ बारह बरस तपस्या की। तपस्या के बल से कैवल्य पाया। उस केवल ज्ञान को ले कर क्या वह फिर विजन में रहे आये ? नहीं, तब उनका मुख जन और जगत् की ओर हुआ और शेष जीवन

उन्होंने उस ज्ञान के बितरण में लगाया। जो उनके पास था उसे सब म बाटे बिना उन्हें चैन कहाँ था। इस प्रयास में वह उत्तरोत्तर अकिंचन और निर्द्वन्द्व होते चले गये, यहाँ तक कि अन्तिम बाधा यह शरीर भी उनसे यहीं के लिये छूट गया।

महावीर का आप स्मरण करते हैं, पर किस आधार पर? उनका आपके पास क्या शेष है? कोई यादगार उनकी नहीं, अवशिष्ट उनका नहीं। यहाँ तक कि इतिहास भी उनका इतिवृत्त पूरी तरह नहीं जुटा पाता। फिर भी आपके हृदय में वह स्वयं आपसे अधिक जीवित हैं। क्या उनके लिये आप में अपना जीवन निछावर करने की ही इच्छा नहीं पैदा हो पाती? क्या आप नहीं मानते कि आप धन्य होंगे यदि उनके काम आ सकेंगे? यह सब इसलिए कि महावीर के नाम से आप में अपने चिदानंद निज रूप का स्मरण जाग उठता है।

यहाँ एक बात विचारने की है। धन बड़े काम की चीज़ है न? उससे तरह-तरह के परोपकार के काम किये जा सकते हैं। भूखों को अन्न दिया जा सकता है और दीनों के अभाव को भरा जा सकता है। फिर सत्ताधिकार का और भी अधिक उपयोग है। अफसरी और नामवरी के लिये लोग इतना धन जो लुटाते हैं, सो व्यर्थ थोड़े ही। उसमें कुछ-न-कुछ सार्थकता तो मालूम होती ही होगी।

लेकिन महावीर राजकुल में जनमे। सम्पदा उनके पास और शासन उनके हाथ। सीधी-सी बात है कि वे दुनिया का बहुत लाभ कर सकते थे, लेकिन उन्होंने वैसा कुछ उपकार का काम नहीं किया। उलटे यह सब छोड़ कर वह अंतर्मुख साधना में लग गये।

मैं पूछता हूँ कि फिर यह क्यों है कि हम उनका उपकार मानते हैं और वह इतना अमित कि उनकी मूर्ति के चरणों में बिछकर ही हम परम धन्यता का अनुभव करते हैं? क्या इसीलिए नहीं कि उन्होंने हमारे शरीर, बुद्धि, मन की चिंता न कर हमें हमारी आत्मा का ही दान किया। हममें हमारी ही सुधि जगाई।

देखने में क्या यह नादानी नहीं कि जिस धन से अपना और दूसरे का लाभ हो सकता है, उससे जान-बूझ कर हीन बन जाया जाय ? फिर भी महावीर ने वही किया । उसी करने को हम परम और चरम पुरुषार्थ पहचानते हैं और उसके लिए महावीर को तीर्थंकर मानते हैं ।

यहाँ फिर हम रुकें । यह सच है कि हम बन्धन नहीं चाहते, हम स्वतंत्र और मुक्त होना चाहते हैं । धन उसी निमित्त हम कमाते हैं । धन के बिना हम अपने चारों तरफ जकड़ अनुभव करते हैं । धन जैसे हमारे बन्धन खोल देता है । दरिद्र के मनोरथ उसे कष्ट देते हैं । धन से मन-चाहा किया जा सकता है । अपने भीतर की इसी आज़ादी की खोज में हम धन कमाते हैं, और क्योंकि आज़ादी का कहीं अंत नहीं है इससे धन की तृष्णा का भी अंत कैसे हो सकता है ?

लेकिन जिस मुक्ति के लिये हर कोई क्षण छटपटाता है, वह पाई तो किसने ? क्या उसने जिसने अतुल धन-राशि एकत्रित की या एकछत्र साम्राज्य स्थापित किया ? चक्रवर्ती भी हो गये हैं और कुबेर भी हो गये हैं; लेकिन क्या किसी के बारे में भ्रम है कि इनमें से किसी ने अपने अपार धन और सत्ता के बीच अपने को मुक्त अनभव किया ? क्या उन्होंने ही अपने जीवन से प्रमाणित और अपने शब्दों में यह स्वीकृत नहीं किया है कि यह समस्त वैभव उनके चारों ओर के बन्धन का जंजाल ही था ? सेनाओं और दरबारियों से घिरे हुए राजाओं ने क्या अंत में नहीं पहचाना कि वे जितने ऊँचे थे, उतने ही वे इकले और एकाकी थे ? जितने वे दूसरे के शासक थे, उतने ही वे परतंत्र भी थे ।

इसके साथ क्या हमारी ही अन्तरात्मा इस बात की साक्षी नहीं देती कि मुक्ति का रहस्य और उसका आनन्द था उन लोगों के पास, जिनके पास पूँजी के नाम केकल प्रेम था, अन्यथा जो अत्यन्त अकिंचन और निरीह थे, जो स्वयं शून्य थे और सम्पूर्ण रूप में आत्मशासित थे ।

इस विस्मय पर हमें कुछ रुकना चाहिये कि जो चलने-फिरने, खाने-पीने तक के बारे में एकदम परतंत्र है, जिसके पास अपना कहने को कुछ

नहीं है, ठीक ऐसा ही आदमी है जो सर्वथा स्वतंत्र है। वह अभय है, मुक्त है, आप्त है।

इसके विरोध में जिसके पास सब कुछ है वह दीन, दरिद्र और बन्धन में जकड़े प्राणी के समान है। वह काल से, मनुष्य से, पड़ोसी से शंका करता हुआ जीता है और जीवन के वरदान को अपने लिए अभिशाप बना डालता है।

इसके भीतर हम जायँगे तो देखेंगे कि इच्छा की मुक्ति बन्धन का ही दूसरा नाम है। इच्छा तो अनन्त और असीम ठहरी, पर बाहर उसका सीमा है और उसका अन्त है। इच्छा उसी बाहर की ओर जाती है। इससे वह हमको हमारेपन से दूर ले जाती है। तब हम देखते हैं कि वे इच्छाएं हमारी नहीं, बल्कि हम उनके हैं। ऐसे वह हम पर सवारी गांठती और क्योंकि उन्हें कहीं न कहीं तो निराश होना ही है इससे हमें क्षत-विक्षत कर छोड़ती है।

सच्ची मुक्ति इच्छा की मुक्ति नहीं, बल्कि इच्छा से मुक्ति है। निष्काम और अनासक्त पुरुष ही मुक्त-पुरुष है। वह तृप्त-काम है; क्योंकि जो इस समस्त कर्म-संकुल जगच्चक्र का आधारभूत प्राणकेन्द्र आत्मा है, वह उसमें तन्निष्ठ और तद्गत बनता है।

मैं अर्थ का विरोधी नहीं। मैं स्वार्थ का भी विरोधी नहीं। मैं सब के अर्थ की पूर्ति चाहता हूँ। उसका नाम परमार्थ है। अर्थ हमारा छोटा क्यों है ? वह क्यों न इतना बड़ा बनता जावे कि सब उसमें समा जायँ ? वह सबसे अविरोधी हो। सच पूछिए तो गहरा स्वार्थ ऐसा ही होता है। परमार्थ और स्वार्थ में यदि विरोध है तो क्या यही न मानना चाहिए कि अपने स्वार्थ के बारे में हम अदूरदर्शी हैं ? अपने ही 'स्व' को और स्वार्थ को हम नहीं जानते हैं।

पच्छिम से आई विचारधारा आर्थिक है। पच्छिम से और अर्थ न लें तो वहाँ भी सन्त हैं, साधु हैं, सद्विचारक हैं। और आर्थिक विचार-

धारा पूर्व में भी वैसी ही फैल रही है। मेरी समझ में नहीं आता कि केवल अर्थ ही क्यों जीवन का माप-दण्ड हो ? परमार्थ क्यों न उसकी जगह ले ? अर्थ तो परमार्थ का एक अंश ही है। इसलिए पारमार्थिक दृष्टिकोण आर्थिक का समावेश करके ही स्वयं सफल हो सकता है।

'समाजवाद' शब्द अब सब का परिचित है; लेकिन उसमें भी मनुष्य को आर्थिक संदर्भ में लेकर संतोष क्यों मान लेना चाहिए ? मनुष्य का अर्थ जैसे समाज में देखा जाता है, वैसे ही अर्थ को भी परमार्थ में देखने का प्रयास राजनैतिक विचारक क्यों न करें ? तब उनकी तृप्ति सामाजिक वाद में न होगी, वे सामाजिक धर्म को ही चाहेंगे। मुझे भी समाज के वाद यानी समाज की बात से संतोष नहीं होता। लगता है कि बात से आगे काम भी समाज का ही होना चाहिए। इस नीति को समाजवाद से आगे समाज-धर्म की ही नीति कहना होगा।

अर्थ का विचार करें। जैन व्यापारियों की जाति है और धनाढ्यता में पहले नहीं तो दूसरे नम्बर पर है। इससे अर्थ की असलियत आप पर खुली ही है। सिक्का खुद खाया या पहना नहीं जाता। वह सीधे किसी काम में नहीं आता; परन्तु उसमें ताक़त है कि वह चीज़ों को जुटा दे। पदार्थों के विनिमय में सुभीता लाने के लिए वह उपजा। उस धन की बात करें, जो जीवन के लिए अनिवार्य है तो धनत्व सिक्के में नहीं, चीज़ में है। अब वितरण और विनिमय ऐसा कुछ विषम हो गया है कि सिक्का स्वयं धन बनता जा रहा है। नतीजा यह कि जो अपनी मेहनत से मनों नाज उगाता है, वही मुट्ठी-भर अन्न को तरस सकता है।

हम जो सम्पत्ति का उपार्जन करते हैं, वह सम्पति का बाँट-बटाव ही है। उस सम्पत्ति में कोई बढ़वारी हम से नहीं होती। लक्ष्मी इस जेब से उस जेब में पहुँचती रहती है। अपनी निज की दृष्टि से नहीं, समूचे समाज की दृष्टि से देखें तो इस लाखों-करोड़ों के धनोपार्जन में क्या एक पैसे का भी सच्चा उपार्जन हम करते हैं ? व्यापारी वस्तुओं को इधर-

से-उधर करता है। काम यह जरूरी है; लेकिन क्या सचमुच वह वस्तुओं को बनाता, बढ़ाता या उगाता है ? जब तक उसका श्रम उत्पादक न हो तब तक उसका उपार्जन शुद्ध पारमार्थिक कैसे कहा जाय ? और हम देख ही चुके कि पारमार्थिक से अनुकूल होकर ही अर्थ में अर्थता है, अन्यथा वह अनर्थ भी हो सकता है।

एक दूसरी बात की ओर भी मैं ध्यान दिलाऊँ। मुद्रा में यदि शक्ति है तो किस के बल पर ? रुपये में क्या सचमुच सोलह आने का मूल्य है ? आप जानते हैं कि ऐसा नहीं है। उस शक्ति का स्रोत सरकार है। तभी तो हर सिक्के पर उसकी मुहर और बड़े नोटों पर अफ़सर के दस्तख़त होते हैं। यह सरकार किस पर टिकी है ? उसकी शक्ति क्या फ़ौज-पुलिस और इनकी सहायता और संरक्षण में रहने वाले क़ानून और कचहरी ही नहीं हैं ? फ़ौज और पुलिस के बल को क्या आप अहिंसा कहेंगे ? इस तरह जाने-अनजाने सिक्कों के रूप में या सिक्कों के बल पर किया गया द्रव्योपार्जन इस सरकारी हिंसा में सहभागी होता ही है।

राजनीति से मुझे सरोकार नहीं। अधिकांश वह प्रपंच का खेल है, लेकिन मुझको ऐसा मालूम होता है कि अहिंसा की बुनियाद उत्पादक शारीरिक श्रम होना ही चाहिए, अन्यथा वह अहिंसा तेजस्वी न रह कर दया की तरह मुलायम और निस्तेज रह जायगी।

धर्म हमको प्रिय है, किन्तु हमें अपनी सम्पत्ति भी प्रिय होती है। कहीं ऐसा तो नहीं है कि सम्पत्ति के रूप में ही हम अपने धर्म को प्यार करते हैं। तिजोरी खोल कर अपने हीरे, पन्ने और सोने रूपे के आभूषण देखकर गद्‌गद् हो सकते हैं कि अहा ! क्या सुन्दर हमारा यह कण्ठा है, या हमारा यह हार है ! इसी तरह अपने ग्रन्थों में झाँक कर हम परम आनन्द पा सकते हैं कि अहा ! कैसा मनोहर हमारा जैन-धर्म है ! किन्तु धर्म ऐसी चीज़ नहीं है जो आपका स्वत्व बन जाय। वह तो ऐसी अमोघ शक्ति है कि आपको जला दे। जल कर ही आदमी उजलता है।

धर्म का सेवन नहीं हा सकता, धर्म में अपनी आहुति ही दी जा सकती है ।

यदि हम धर्म की महिमा चाहते हैं तो उसकी क़ीमत में अपने का देने को तैयार होना होगा । क़ीमत बिना चुकाये जो चीज़ मिलेगी वह असली कैसे हो सकती है ? आदमी के बाज़ार में चूक चल जाय, पर पर धर्म के हाट में ऐसी भूल भला सम्भव है ?

: १४ :

गांधी-नीति

गांधीवाद पर शुरू में ही मुझे कहना होगा कि मेरे लेखे वह शब्द मिथ्या है। जहां वाद है वहां विवाद भी है। वाद का काम है प्रतिवाद को विवाद द्वारा खंडित करना और इस तरह अपने को चलाना। गांधी के जीवन में विवाद एकदम नहीं है। इसलिए गांधी को वाद द्वारा ग्रहण करना सफल नहीं होगा।

गांधी ने कोई सूत्रबद्ध मन्तव्य प्रचारित नहीं किया है। वैसा रेखा-बद्ध मन्तव्य वाद होता है। गांधी अपने जीवन का सत्य के प्रयोग के रूप में देखते हैं। सत्य के साक्षात् की उसमें चेष्टा है। सत्य पा नहीं लिया गया है, उसके दर्शन का निरन्तर प्रयास है। उनका जीवन परीक्षण है। परीक्षा-फल आंकने का काम इतिहास का होगा, जब कि उनका जीवन जिया जा चुका होगा। उससे पहले उस जीवन-फल को तौलने के लिए बाट कहां है? कालांतर (Perspective) कहां है?

जो सिद्धान्त गांधी के जीवन द्वारा चरितार्थ और प्रसिद्ध हो रहा है वह केवल बौद्धिक नहीं है। इसलिए वह केवल बुद्धि-ग्राह्य भी नहीं है। वह समूचे जीवन से सम्बन्ध रखता है। इस लिहाज से उसे आध्यात्मिक कह सकते हैं। आध्यात्मिक यानी धार्मिक। व्यक्तित्व का और जीवन का कोई पहलू उससे बचा नहीं रह सकता। क्या व्यक्तिगत, क्या सामाजिक क्या राजनैतिक, अथवा अन्य क्षेत्रों में वह एक-सा व्यापक है। वह चिन्मय है, वादगत वह नहीं है।

गांधी के जीवन की समूची विविधता भीतरी संकल्प और विश्वास की निपट एकता पर कायम है। जो चिन्मयतत्त्व उनके जीवन से व्यक्त होता है उसमें खंड नहीं है। वह सहज और स्वभावरूप है। उसमें प्रतिभा की आभा नहीं है, क्योंकि प्रतिभा द्वंद्वज होती है। उस निर्गुण अद्वैततत्व के प्रकाश में देख सकें तो उस जीवन का विस्मयकारी वैचित्र्य दिन की धूप जैसा धौला और साफ हो आयेगा। अन्यथा गांधी एक पहेली है जो कभी खुल नहीं सकती। कुंजी उसकी एक और एक ही है। वहां दो-पन नहीं है। वहां सब दो एक हैं।

"सर्व धर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।" समूचे और बहुतेरे मतवादों के बीच में रहकर, सबको मानकर किन्तु किसी में न घिरकर, गांधी ने सत्य की शरण को गह लिया। सत्य ही ईश्वर और ईश्वर ही सत्य। इसके अतिरिक्त उनके निकट ईश्वर की भी कोई और भाषा नहीं है, न सत्य की ही कोई और परिभाषा है। इस दृष्टि से गांधी की आस्था का आधार अविश्वासी को एकदम अगम है। पर वह आस्था अटूट, अजेय और अमोघ इसी कारण है। देखा जाय तो वह अति सुगम भी इसी कारण है।

कहां से गांधी को कर्म की प्रेरणा प्राप्त होती है, इसका बिना अनुमान किये उस कर्म का अंगीकार कठिन होगा। स्रोत को जान लेने पर मानो वह कर्म सहज उपलब्ध हो जायगा। गांधी की प्रेरणा शत-प्रतिशत आस्तिकता में से आती है। वह सर्वथा अपने को ईश्वर के हाथ में छोड़े हुए है। ऐसा करके अनायास वह भाग्य-पुरुष (Man of Destiny) हो गये हैं। जो वह चाहते हैं, होता है—क्योंकि जो होने वाला है, उसके अतिरिक्त चाह उनमें नहीं है।

बौद्धिक रूप से ग्रहण की जाने वाली उनकी जीवन-नीति, उनकी समाज-नीति, उनकी राजनीति, इस आस्तिकता के आधार को ताड़ कर समझने की कोशिश करने से समझ में नहीं आ सकती। इस भांति वह एकदम विरोधाभास से भरी, वक्रताओं से वक्र और प्रपंचों से क्लिष्ट

मालूम होगी। जैसे उसमें कोई रीढ़ ही नहीं है। वह नीति मानो अवसरवादी की नीति है। मानो वह घाघपन है। पर मुझे तो ऐसा मालूम होता है कि यह घाघपन, यह कार्य-कौशल, अनायास ही यदि उन्हें सिद्ध हो पाया है तो इसी कारण कि उन्होंने अपने जीवन के समूचे जोर से एक और अकेले लक्ष्य को पकड़ लिया है। और वह लक्ष्य क्योंकि एकदम निर्गुण, निराकार, अज्ञेय और अनन्त है; इससे वह किसी को बाँध नहीं सकता, खोलता ही है। उस आदर्श के प्रति उनका समर्पण सर्वांगीण है। इसलिए सहज भाव से उनका व्यवहार भी आदर्श से उज्ज्वल और ग्रन्थिहीन हो गया है। उसमें द्विविधा ही नहीं है। दुनिया में चलना भी मानो उनके लिए अध्यात्म का ध्यान है। नर की सेवा नारायण की पूजा है। कर्म सुकौशल ही योग है। ईश्वर और संसार में विरोध, यहाँ तक कि द्वित्व, ही नहीं रह गया है। सृष्टि स्रष्टामय है और विष्ठा को भी सोना बनाया जा सकता है। यों कहिए कि सृष्टि में स्रष्टा, नर में नारायण, पदार्थमात्र में सत्य देखने की उनकी साधना में से ही उनकी राजनीति, उनकी समाज नीति ने वह रुख लिया जो कि लिया। राजनीति आध्यात्मिकता से अनुप्राणित हुई, स्थूल कर्म में सत्य-ज्ञान की प्रतिष्ठा हुई और घोर घमासान में प्रेम और शान्ति के आनन्द को अक्षुण्ण रखना बताया गया।

सत्य ही है। भेदमात्र उसमें लय है। इस अनुभूति की लीनता ही सब का परम इष्ट है। किन्तु हमारा अज्ञान हमारा बाधा है। अज्ञान, यानी अहंकार। जिसमें हम हैं उसमें ही, अर्थात् स्वयं में शून्य, अपने को अनुभव करते जाना ही ज्ञान पाना और जीवन की चरितार्थता पाना है। यही कर्तव्य, यही धर्म।

विश्वास की यह भित्ति पाने पर जब व्यक्ति चलने का प्रयासी होता है तब उसके कर्म में आदर्श सामाजिकता अपने आप समा जाती है। समूचा राजनैतिक कर्मांदोलन भी इसके भीतर आ जाता है। देश सेवा आती है। विदेशी सरकार से लड़ना भी आ जाता है। स्वराज्य कायम

करना और शासन-विधान को यथावश्यक रूप में ताड़ना-बदलना भी आ जाता है।

पर वह कैसे ?

सत्य की आस्था प्राप्त कर उस ओर चलने का प्रयत्न करते ही अभ्यासी को दूसरा तत्त्व मिलता है अहिंसा। उसे सत्य का ही प्राप्त पहलू कहिए। जैसे रात को चाँद का बस उजला भाग दीखता है, शेष पिछला भाग उसका नहीं दिखाई देता, उसी तरह कहना चाहिए कि जो भाग सत्य का हमारे सम्मुख है वह अहिंसा है। वह भाग अगर उजला है तो किसी अपर ज्योति से ही है। लेकिन फिर भी वह प्रकाशोद्गम (सत्य) स्वयं हमारे लिए कुछ अज्ञात और प्रार्थनीय ही है। और जो उसका पहलू आचरणीय रूप में सम्मुख है वही अहिंसा है।

सत्य में तो सब हैं एक। लेकिन यहाँ इस संहार में तो मुझ जैसे कोटि-कोटि आदमी अथवा अन्य जीवधारी भी दीखते हैं। उनके अनेक नाम हैं, अनेक वर्ग हैं। ईश्वर में आस्था रखूं तो इस अनेकता के प्रति कैसा आचरण करूँ ? इन अनेक में भी कोई मुझे अपना मानता है, कोई पराया गिनता है। कोई सगा है, दूसरा द्वेषी है। और इस दुनिया के पदार्थों में भी कुछ मेरे लिए ज़हर हैं, कुछ अन्य औषध है। इस विषमता से भरे संसार के प्रति ऐक्य-विश्वास को लेकर मैं कैसे वर्तन करूं, यह प्रश्न होता है।

आस्तिक अगर ऐसे विकट अवसर पर संशय से घिरकर आस्तिकता को छोड़ नहीं बैठता, तो उसके लिए एक ही उत्तर है। वह उत्तर है, अहिंसा।

जो है ईश्वर का है, ईश्वर-कृत है। मैं उसका, किसी का, नाश नहीं चाह सकता। किसी की बुराई नहीं चाह सकता। किसी को झूठा नहीं कह सकता। घमण्ड नहीं कर सकता। आदि कर्तव्य एकाएक ही आस्तिक के ऊपर आ जाते हैं।

लेकिन कर्तव्य कुछ आ जाये—तर्क सुझायेगा कि—यथार्थ भी तो

में देखूं । आंख सब ओर से तो मूंदी नहीं जा सकती । वह आंख दिखाती है कि जीव जीव को खाता है । मैं चलता हूँ, कौन जानता है कि इसमें भी बहुत सूक्ष्म जीवों को असुविधा नहीं होती, उनका नाश नहीं होता ? आहार बिना क्या मैं जी सकता हूं ? लेकिन आहार में कब हिंसा नहीं है ? जीवन का एक भी व्यापार हिंसा के बिना संभव नहीं बनता दीखता । जीवन युद्ध दिखलाई देता है । वहाँ शान्ति नहीं है । पग-पग पर दुविधा है और विग्रह है ।

तब कहे कि कौन क्या कहता है । ऐसे स्थल पर आकर ईश-निष्ठा टूट कर ही रहेगी । ऐसे समय पागल ही ईश्वर की बात कर सकता है । जिसकी आंखें खुली हैं और कुछ देख सकती हैं वह सामने के प्रत्यक्ष जीवन में से साफ़ सार तत्त्व को पहचान लेगा कि जीव-नाश अनिवार्य है । जीवन एक युद्ध है और उसमें बल की ही विजय है । वह बल जिस पद्धति से विजयी होता, यानी जीवन गति पाता है, उसका नाम है हिंसा । मजबूत के तले सदा निर्बल दबता आया है, और इसी तरह विकास होता आया है ।

मेरे खयाल में श्रद्धा के अभाव में तर्क की और बुद्धि की सचाई और चुनौती यही है ।

किन्तु समस्या भी यही है, रोग भी यही है । आज जिस उलझन को सुलझाना है, और जिस उलझन को सुलझाने का सवाल हर देश में हर काल में कर्म-क्षेत्र में प्रवेश करने वाले योद्धा के सामने आयगा, वह यही है कि इस कुरु-क्षेत्र में मैं क्या करूं ? किसको तजूं, किसको वरूं ? अनिष्ट को कैसे हराऊं ? अनिष्ट क्या है, क्या वह अमुक अथवा अमुक नामधारी है ? वही है, या कि वह कुछ मेरे भीतर है ।

इतिहास के आदि से दो नीति और दो पद्धति चलती चली आई हैं । एक वह जो अपने में नहीं, दुश्मन को कहीं बाहर देखकर ललकार के साथ उसके नाश के लिए चलने का बढ़ावा देती है । दूसरी, जो स्वयं अपने को भी देखती है और बुरे को नहीं, उसमें विकार के कारण आ

गयी हुई बुराई को दूर करना चाहता है। ऐसा वह आत्म संस्कार द्वारा करती है। आस्तिक की पद्धति यह दूसरी ही हो सकती है। उस श्रद्धा के बिना बहुत मुश्किल है कि पहली नीति को मानने और उसके वश में हो जाने से व्यक्ति बच सके।

गांधीजी की राजनीति इस प्रकार धर्मनीति का ही एक प्रयोग है। वह नीति संघर्ष की परिभाषा में बात नहीं सोचती। संघर्ष की भाषा उसके लिए नितान्त असंगत है। युद्ध तो अनिवार्य ही है, किन्तु वह धर्म-युद्ध हो। जो धर्म-भाव से नहीं किया जाता वह युद्ध संकट काटता नहीं, संकट बढ़ाता है। धर्म साथ हो, फिर युद्ध से मुंह मोड़ना नहीं है। इस प्रकार के युद्ध से शत्रु मित्र बनता है। नहीं तो शत्रु चाहे मिट ही जाए, पर वह अपने पीछे शत्रुता के बीज छोड़ जाता है और इस तरह शत्रुओं की संख्या गुणानुगुणित ही हो जाती है। अतः युद्ध शत्रु से नहीं, शत्रुता से होगा। बुराई से लड़ना कब रुक सकता है? जो बुराई को मान बैठता है, वह भलाई का कैसा सेवक है? इससे निरन्तर युद्ध, अविराम युद्ध। एक क्षण भी उस युद्ध में आँख झपकने का अवकाश नहीं। किन्तु पलभर के लिए भी वह युद्ध वासना मूलक नहीं हो सकता। वह जीवन का और मौत का, प्रकाश-अंधकार-और धर्म-अधर्म का युद्ध है। यह खाँडे की धार पर चलना है।

इस प्रकार गांधी-नीति की दो आधार-शिला प्राप्त हुईं:—

(१) ध्येय: सत्य।

क्योंकि ध्येय और कुछ हो नहीं सकता। जिसमें द्विधा है, दुई है, जिससे कोई अलग भी है, वह ध्येय कैसा? जो एक है, वह संपूर्ण भी है। वह स्वयं है, आदि-अंत है, अनादि-अनंत है। प्रगाढ़ आस्था से ग्रहण करो तो वही परमेश्वर।

(२) धर्म: अहिंसा।

क्योंकि इस ध्येय को मानने से जो व्यवहार-धर्म प्राप्त हो सकता है वह अहिंसा ही है।

अहिंसा इसलिए कहा गया कि उस प्रेरक चित्तत्व को स्वीकार की परिभाषा में कहना हो नहीं पाता, नकार की परिभाषा ही हाथ रह जाती है। उसको कोई पॉजिटिव संज्ञा ठीक नहीं ढक पाती। हिंसा का अभाव अहिंसा नहीं है, वह तो उसका बाह्य रूप भर है। उस अहिंसा का प्राण प्रेम है। प्रेम से और जीवन्त (पॉजिटिव) शक्ति क्या है ? फिर भी पारमार्थिक और लौकिक प्रेम में अन्तर बांधना कठिन हो जाता, और 'प्रेम' शब्द में निषेध की शक्ति भी कम रहती; इसी से प्रेम न कहकर कहा गया, 'अहिंसा'। वह अहिंसा निष्क्रिय पदार्थ नहीं है। वह तेजस्वी और सक्रिय तत्व है।

अहिंसा इस प्रकार मन की समूची वृत्ति द्वारा ग्रहण की जाने वाली शक्ति हुई। कहिए कि चित्त अहिंसा में भीग रहना चाहिए। और सत्य है ही ध्येय। यहाँ कहा जा सकता है कि मात्र इन दोनों--सत्य-अहिंसा-के सहारे साधारण भाषा में लोक-कर्म के सम्बन्ध में कुछ प्रकाश नहीं प्राप्त होता। सत्य को मन में धार लिया, अहिंसा से भी चित्त को भिगो लिया। लेकिन अब करना क्या होगा ? तो उसके लिए है:--

(३) कर्म: सत्याग्रह।

सत्याग्रह मानो कर्म की व्याख्या है। सत्य प्राप्त नहीं है। उस उपलब्धि की ओर तो बढ़ते रहना है। इसी में गति (उन्नति, प्रगति, विकास आदि) की आवश्यकता समा जाती है। इसी में कर्तव्य यानी करने की बात आ जाती है।

यहां प्रश्न उठ सकता है कि जब पहली स्थापना में सत्य को अखंड और अविभाज्य कहा गया तब वहां अवकाश कहां रहा कि आग्रह हो ? जहाँ आग्रह है वहां, इसलिए, असत्य है।

यह शंका अत्यन्त संगत है। और इसी का निराकरण करने के लिए शर्त लगाई गई--सविनय। जहां विनय भाव नहीं है वहां सत्याग्रह हो ही नहीं सकता। अविनय यानी हिंसा हो वहां सत्याग्रह शब्द का व्यवहार है तो जान अथवा अजान में छल है। व्यक्ति सदा अपूर्ण है।

जब तक वह है, तब तक समष्टि के साथ उसका कुछ भेद भी है । फिर भी जो समष्टिगत सत्य की झांकी व्यक्ति के अन्त:करण में प्राप्त होकर जाग उठी है, उस पर डटी रहने वाली निष्ठा को कहा गया, आग्रह किन्तु उस आग्रह में सत्याग्रही अविनयी नहीं हो सकता, और उस आग्रह का बोझ अपने ऊपर ही लेता है । उसकी (नैतिक से अतिरिक्त) चोट दूसरे तक नहीं पहुंचने देता । योनी सत्याग्रह है तो सविनय होगा । कहीं गहरे तल में भी वहां अविनय भाव नहीं हो सकता । कानून (सरकारी और लौकिक) तक की अवज्ञा हो सकेगी, उसका भंग किया जासकेगा, लेकिन तभी जब कि सत्य की निष्ठा के कारण हो और वह अवज्ञा सर्वथा विनम्र और भद्र हो ।

गांधी-नीति के इस प्रकार ये तीन मूल सिद्धान्त हुए । यों तीनों एक ही हैं । फिर भी कह सकते हैं कि सत्य व्यक्तिगत है, अहिंसा सामाजिक और सत्याग्रह राजनैतिक हो जाता है ।

इसके आगे संगठित और सामुदायिक रूप से कर्म की व्यवस्था और आन्दोलन का प्रोग्राम पाने के बारे कठिनाई नहीं होगी । व्यक्ति किन्हीं विशेष परिस्थितियों के बीच जन्म पाता है । इन परिस्थितियों में गर्भित आदि-दिन से ही कुछ कर्तव्य उसे मिलता है । वह कर्तव्य कितना ही स्वल्प और सँकरा प्रतीत होता हो, लेकिन वहीं व्यक्ति की सिद्धि और वही उसका स्वधर्म है । उसको करके मानो वह सब कुछ करने का द्वार पा लेना है । "स्वधर्मे निधनं श्रेय:, परधर्मो भयावहः ।

इस भांति वर्तन करने से विकल्प-जाल कटता है । कल्पना को लगाम मिल जाती है । बुद्धि बहकती नहीं और तरह तरह के स्वर्ण-चित्र तात्कालिक कर्म से बहका कर व्यक्ति को दूर नहीं खींच लेजाते । क्षणोत्साह की (Romantic) वृत्ति इस तरह मन्द होती है और परिणाम में स्वार्थजन्य स्पर्द्धा और आपाधापी भी कम होती है । सबको दबा देने और सबसे आगे बढ़े हुए दीखने की ओर मन उतता नहीं लपकता और परिणाम व्यवित विक्षोभ और विग्रह पैदा करने में

नहीं लग जाता। महत्वकांक्षा की धार तब काटती नहीं। व्यक्ति कर्म-शाली तो बनता है, फिर भी भागाभागी से बच जाता है। वह मानों अपना स्वामी होता है। ऐसा नहीं जान पड़ता जैसे पीछे किसी चाबुक की मार पर बेबस भाव से अन्धी गति म वह भाग रहा हो।

मुझे तो मालूम होता है कि हमारी सामाजिक और राजनैतिक उलझनों की जड़ में मुख्यता से यही आपाधापी और बढ़ा-बढ़ी की प्रवृत्ति है।

ऊपर यह आन्तरिक (Subjective) दृष्टिकोण की बात कही गई। यानी भावना-शुद्धि की बात। मुख्य भी वही है। पर प्रश्न होगा कि घटना की दुनिया (Objective facts) के साथ गांधी-नीति क्या करना चाहती है। उसमें क्या सुधार हो, और कैसे हो? समाज का संघटन क्या हो? आवश्यकता और अधिकार का, उद्यम आराम का विज्ञान-कला का, शासन का और न्याय का परस्पर सम्पर्क और विभाजन क्या हो? श्रम और पूंजी कैसे निपटें? इत्यादि।

तो प्रश्न-कर्ता को पहले तो यह कहना आवश्यक है कि सारे प्रश्न आज अभी हल हो जायंगे तो काल भी आज ही समाप्त हो जायगा। इससे प्रश्नों का लेकर एक घटाटोप से अपने को घेर लेने और हतबुद्ध होने की आवश्यकता नहीं है। फिर उनका हल कागज़ पर और बुद्धि में ही हो जाने वाला नहीं है। सब सवालों का हल बताने वाली मोटी किताब मुझे उन सवालों से छुटकारा नहीं दे देगी। इससे विचार-धाराओं (Ideologies) से काम नहीं चलेगा। जो प्रश्न हैं उनमें तो अपनी समूची कर्म की लगन से लग जाना है। ऐसे ही वे शनैः-शनैः निपटते जायंगे। नहीं तो किनारे पर बैठकर उनका समाधान मालूम करलेने से कर्म की प्रेरणा चुक जायगी और अन्त में मालूम होगा कि वह मन द्वारा मान लिया गया समाधान समाधान न था, फ़रेब था, और ज़रा बोझ पड़ते ही वह तो उड़ गया और हमें कोरा-का- कोरा वहीं-का-वहीं छोड़ गया है। अर्थात् उन प्रश्नों पर बहसा-बहसी और लिखा पढ़ी की अपने आप में ज़रूरत नहीं है। उनमें जुट जाना पहली बात है।

गाँधी नीति है कि समस्या को बौद्धिक कहकर केवल बुद्धि-क्रीड़ा से उसे खोलने की आशा न करो। ऐसे वह उलझेगी ही। समस्या जीवन की है, इससे पूरे जीवन बल के साथ उससे जूझो। इस कार्य-पद्धति पर बढ़ते ही पहला सिद्धान्त-सूत्र जो हाथ लगता है वह है 'स्वदेशी'।

'स्वदेशी' द्वारा व्यक्तिगत कर्म में सामाजिक उपयोगिता पहली शर्त के तौर पर मांगी जाती है। इस शर्त का अर्थ है कि हमारे काम से आस-पास के लोगों को लाभ पहुंचे। आदान-प्रदान बढ़े, सहानुभूति विकसे, और पड़ौसीपन पनपे। पास-पड़ौसपन (Neighbourliness) स्वदेशी की जान है। मेरा देश वह जहां मैं रहता हूं। इस भाँति सबसे पहले मेरा घर और मेरा गाँव मेरा देश है। उत्तरोत्तर वह बढ़ कर ज़िला, प्रान्त, राष्ट्र और विश्व तक पहुंच सकता है भूगोल के नक्शे का देश अन्तिम देश नहीं है। मेरे घर को इंकार कर नगर कुछ नहीं रहता, उसी तरह नगर प्रान्त को इंकार कर राष्ट्र कुछ नहीं रहता। उधर दूसरी ओर नागरिक हित से विरोधी बनकर पारिवारिक स्वार्थ तो निषिद्ध बनता ही है।

स्वदेशी में यही भाव है। उसमें भाव है कि मैं पड़ौसी से टूटूं नहीं और अधिकाधिक हममें हितैक्य बढ़े। दूसरा उसमें भाव है, सर्वोदय। एक जगह जाकर शरीर भी आत्मा के लिए विदेशी हो सकता है।

समाजवादी अथवा अन्य वस्तुवादी समाज-नीतियां इसी जगह भूल कर जातीं हैं। वे समाज को सम्हालने में उसी की इकाई को भूल जाती हैं। उनमें योजनाओं की विशदता रहती है, पर मूल में Neighbourliness के तख़्त पर ज़ोर नहीं रहता। सामाजिकता वही सच्ची जो पड़ौसी के प्रेम से आरम्भ होती है। इस तत्व को ध्यान में रखे तो बड़े पैमाने पर चलने वाला यांत्रिक उद्योगवाद गिर जायगा। जहाँ बड़े कल कारखाने हुए वहाँ जन-पद दो भागों में बंटने लगता है। वे दोनों एक दूसरे को ग़रज़ की भावना से पकड़ने और अविश्वास से देखते हैं। वे

परस्पर सह्य बने रहने के लिए एक दूसरे की आँख बचाते और मिथ्याचार करते हैं। मिल मालिक मज़दूरों की झोंपड़ियों को यथाशक्ति अपने से दूर रखता है और अपनी कोठी पर चौकीदारों का दल बैठाता है, जिससे ख़ुद दुष्प्राप्य और सुरक्षित रहे। उधर मजदूरों की आँख में मालिक और मालिक का बंगला कांटा बने रहते हैं।

इस प्रकार के विकृत और मलिन मानवीय सम्बन्ध तभी असम्भव बन सकेंगे जब समाज की पुनरंचना पड़ोसपन के सिद्धान्त के आधार पर होगी। वह आधार स्वार्थ-शोध नहीं है। वस्तुवादी भौतिक (Materialistic) नीतियां अन्ततः यही पहुंचती हैं कि व्यक्ति स्वार्थ के आधार पर चलता और चल सकता है।

स्वदेशी सिद्धान्त में से जो उद्योग का कार्यक्रम प्राप्त होता है उसमें मानव सम्बन्धों के अस्वच्छ होने का खटका कम रहता है। उसमें उत्पादन केन्द्रित नहीं होगा, और खपत के लिए मध्यम वर्ग के बढ़ने और फूलने की गुंजाइश कम रहेगी। मानव श्रम का मूल्य बढ़ेगा और अनुत्पादक चतुराई का मूल्य घटेगा। महाजन, श्रमी और ग्राहक सब आसपास मिले-जुले रहने के कारण समाज में वैषम्य न होगा और शोषण-वृत्ति को गर्व-स्फीत होने का अवकाश कम प्राप्त होगा।

इस भांति चरखा, ग्रामोद्योग, मादक-द्रव्यनिषेध और हरिजन (दलित)-सेवा यह चतुर्विध कार्यक्रम हिन्दुस्तान की हालत को देखते हुए अन्तः शुद्धि और सामाजिक उपयोगिता दोनों अन्तों को मिलाने वाली गांधी नीति के स्वदेशी सिद्धान्त से स्वयमेव प्राप्त होता है। यह शक्ति-संचय और ऐक्य-विस्तार का कार्यक्रम है। शक्ति और अवसर प्राप्त होने पर फिर सत्याग्रह (Direct action) द्वारा राजनैतिक विधान में परिवर्तन लाने और उसे लोक-कल्याण की ओर मोड़ने की बात विशेष दुस्साध्य नहीं रहती।

यहां ध्यान रखना चाहिए कि स्वदेशी का आरम्भ राष्ट्र-भावना से नहीं होता। इसलिए उसका अन्त भी राष्ट्र-भावना पर नहीं है। राष्ट्र

भावना मध्य में आजाय तो भले आजाय । स्वदेशी को भौगोलिक राष्ट्र के अर्थ में लेने से गड़बड़ उपस्थित हो सकती है । इससे 'देशी' पूंजीवाद को बढ़ावा मिलता है ; और उस राह तो एक दिन State Capitalism में उतर आना होगा । उसके अर्थ होंगे, एक तंत्रीय शासन । यांत्रिक उद्योगाश्रित समाजवाद का यही परिणाम आने वाला है । यानी ऐसा समाजवाद एक-तंत्रवाद (फासिज़्म) आदि को बुला कर ही रहेगा । गांधी नीति का स्वदेशी सिद्धान्त, अतः हिन्दुस्तानी मिलों को नहीं, घरेलू चरखों को चाहता है ।

संक्षेप में गांधी नीति इस स्थापना से आरम्भ होती है कि जीवात्मा सर्वात्मा का ही खंड है । इससे व्यक्ति का ध्येय समस्त से एकाकार होना है । उसकी इस यात्रा में ही समाज और विश्व के साथ सामंजस्य की बात आती है । वह जितना उत्तरोत्तर इन व्यापक सत्ताओं से एकात्म होता चला जावे उतना अपनी और संसार की बन्धन-मुक्ति में योगदान करता है । इस यात्रा के यात्री के जीवन-कर्म का राजनीति एक पहलू है । आवश्यक है, पर वह पहलू भर है । वह राजनीति कर्म में युद्ध-रूप हो, पर अपनी प्रकृति में उसे धर्म-मयी और शान्ति लक्षी ही होना चाहिए ।

उस यात्रा का मार्ग तो अपरिचित ही है । फिर भी श्रद्धा यात्री का सहारा है । भीतरी श्रद्धा का स्थिर धीमा आलोक उसे मार्ग से डिगने न देगा । उस राही को तो एक क़दम बस काफ़ी है । वह चले, फिर अगला सूझा ही रखा है । मुख्य बात चलना है । राह चलने से ही खुलेगी । इस प्रकार इस यात्रा में प्रत्येक क़दम ही एक साध्य है । यहां साधन स्वयं साध्य का अंग है । साधन साध्य से कहाँ भिन्न हो सकता है । इससे जिसे लम्बा चलना है, लम्बी बातों का उसके लिए अवसर नहीं है । वह तो चला चले, बस चला चले ।

व्यवहार का कोई भी कर्म धर्म से बाहर नहीं है । सब में धर्म का

श्वाँस चाहिये। उसी दृष्टिकोण से जीवन की समस्याओं को ग्रहण करने से समुचित समाधान का लाभ होगा । अन्यथा नहीं । सब के मन में एक जोत है। उसे जगाये रखना है। फिर उस लौ में जीवन को लगाये चले चलना है। चले चलना, चले चलना। जो होगा ठीक होगा। राह का अन्त न नाप राही, तुझे तो चलना है।

: १५ :

ब्लैक आउट !

'ब्लैक आउट' का नाम सुना था, देखा अब। सात बजे से बाज़ार सुनसान होने लगा। रोशनियां न जगीं। कहीं बत्ती थी तो उसे अपनी लाज ढकनी होती थी। गर्मी में और दिन इस वक्त मामूली तौर पर लोग दिन के ताप से छूटकर बगीचों-मैदानों में खिले खुले घूमते थे, अब वे घरों में बन्द नहीं हैं तो दुबके और सहमे घूम रहे हैं।

क्योंकि 'ब्लैक आउट' है। क्योंकि दिन टेढ़े हैं और आसमान से गोले बरस सकते हैं। क्योंकि कोई है जो खूंखार है और सबका दुश्मन है, और कभी भी आसमान पर छा आ सकता है। इससे ऐ नगर के वासियो, अन्धेरे में रहना सीखो। मत पता लगने दो कि नीचे जान है। अंधेरी रात में सन्नाटा भरे मुर्दे की तरह रह सकोगे तो ख़ैरियत है, नहीं तो तुम्हारा भगवान मालिक है!

दुश्मन सिर पर हवाई जहाज़ लेकर आ ही जाय, तब नीचे का ब्लैक आउट उसकी या हमारी कितनी मदद करेगा, इसका हमें ठीक पता नहीं है। लन्दन साखा-पढ़ा है, फिर भी बमों की मार खा रहा है। इससे ब्लैक आउट के ज़ोर से दुश्मन के परास्त और हमारे सुरक्षित होने की सम्भावना कितनी बढ़ जाती है, यह तो हम नहीं जानते। पर है यह एक नया अनुभव। मन पर उसका असर पड़ता है, मन मानता है कि ऐन सिर पर नहीं तो देहली पर तो कोई भूत आ ही गया होगा।

लड़ाई के दिनों में सबसे क़ीमती चीज़ है दिलेरी। दिलेरी डर में से

पैदा होती है। (यह मैं मारने वाली दिलेरी की बात कहता हूं) डर हो तभी तो डराने वाले दुश्मन को मारने का उत्साह हो। इससे जिसमें से उत्साह वसूल करना है, उसमें पहले डर डालना चाहिये। चाहा जाता है कि आदमी कमर बांध कर खड़ा हो और चल पड़े लड़ने के लिये, तो यह हो ऐसे ही सकता है कि हम एक में दूसरे का डर भरें।

डर न होने से एक बड़ा भारी खतरा है। वह यह कि जिसको चाहा जाता है कि आप मारें, उसे दुश्मन तो नहीं बल्कि आदमी के रूप में आप देखने लग जायं। असल में डर ही हो सकता हैं, जो आपके लिए किसी को दुश्मन बनाये। उस डर में से यह शक्ति आती है कि आप उसे दुश्मन मानकर मारें। कहीं यदि आप निडर हुए तो खटका है कि शत्रु शत्रु ही न रह जाय, वह आदमी दीख आय। तब उसको मारने लायक़ जोश भी आप में कहां रह जायगा। बस यही नामर्दी समझी जायगी !

इसलिये युद्ध-काल में सबसे आवश्यक तत्त्व है भय। भय के लिये धरती चाहिये द्वेष और घृणा की। इस सबके संयाग बिना शत्रु से लड़ाई न होगी। भला ऐसे कैसे काम चलेगा ?

इस तरह युद्ध नाम के उद्यम व्यवसाय आरम्भ करने से पहले इस प्रकार की तैयारियां काफ़ी की जाती हैं। हवा में और मन में अविश्वास और घृणा और भय काफ़ी मात्रा में भर जाता है। आदमी का मन ठहरा ही कच्चा, उसमें अविश्वास उभारने के लिये बहुत चतुराई की ज़रूरत नहीं है। स्वार्थ के आधार पर वह चलता ही रहा है। मकान बनाया, परिवार बनाया, सम्पत्ति बनाई। सदा चौकन्ना रहा कि उस मकान और परिवार और सम्पत्ति पर आंच न आये। किसी ने उस पर आंख की तो वह आंख ही निकाल लेगा। बस इस भांति उस आदमी के मन में भय भरने का सरल उपाय हो जाता है––उसके जान-माल को ख़तरे में दिखला देना। ऐसे ही उसमें दिलेरी पैदा होती है। कहीं अगर उसके मन में

यह लालसा भी लहकाई जा सके कि दूसरों का माल हड़प करने का मौक़ा है, तब इस दिलेरी में और धार आ जायगी।

लड़ाई लड़ने वालों में यही दो पक्ष हैं, एक स्वार्थ-रक्षा में लड़ते और दूसरे स्वार्थ-विस्तार में लड़ते हैं। इन वृत्तियों को जगत् में तरह-तरहके नाम प्राप्त हैं। न्याय, कर्तव्य, धर्म इत्यादि। स्पष्ट है कि जो अपनी तरफ़ न्याय और धर्म को मानता है, वह सबका सब अन्याय और अधर्म दूसरे के माथे पटकता है....स्वयं सभ्यता और संस्कृति का उद्धारक या प्रादुर्भावक वह होता है, दूसरे को उसमें विघ्न रूप राक्षस मानता है। ऐसे परस्पर का अविश्वास क्लेश और घृणा तीव्रतर और लड़ाई अधिकाधिक अनिवार्य होती जाती है।

यह बिलकुल जरूरी है कि दुनिया लड़ रही है तो हम भी चुप न बैठें। बेशक आग के ऊपर आसन लगाकर बैठने और लपटों को उपदेश देने से लाभ नहीं है। आग से अप्रभावित रहने की बात में कुछ मतलब ही नहीं है। उसका अर्थ यही हो सकता है कि आग की झुलस ने अभी आपको छुआ नहीं है। यह कोई श्रेय की बात नहीं। दुनिया के आप अंग हैं। यह कहकर कि धोती में आग लगा है कुर्ता निश्चिंत नहीं हो सकता। दुनिया एक है, तो उसके कई और अनेक देश भी परस्पर अनुबद्ध हैं। इसमें कोई तुक नहीं कि योद्धाओं के बीच आप कोरे उपदेशक बनें। यह तो दम्भ होगा। योद्धा पहचानता है तो योद्धा को। उपदेशक उसके लिये निकम्मा है। शत्रु पक्ष का ही चाहे हो, सच्चे योद्धा के लिये हर योद्धा में प्रशंसा होगी। युद्ध की भाषा ही उसे प्राप्त है। वही उसका साध्य, वही साधन, वही एक उसका तर्क। इससे युद्ध में शान्ति का उपदेशक सिवाय युद्ध की बर्बरता को भड़काने के और कोई सेवा नहीं कर सकता है। वह अपने लिये योद्धा का तिरस्कार ही प्राप्त कर सकता है।

किन्तु शान्ति यानी निर्वैर का उपदेशक नहीं योद्धा भी बना जा

सकता है। असल में आज वही योद्धा चाहिये । योद्धा वह जो अपनी जान को तो हथेली पर ले अवश्य, पर दूसरे की जान को अभय देता हुआ आगे बढ़े।

पहले ही कहा कि शत्रु भय में से बनता है। जो निर्भय है वह अजात शत्रु है, उसे जाकर किसको मारना है? पर जो भयभीत होकर उसे ही मारने के लिये आना चाहता है, उसको तो उसके भय से छुटकारा दिलाना है। इसलिये उसे शत्रु मानकर नहीं, बल्कि अपना भूला हुआ मित्र मानकर सच्चे योद्धा में उससे भेंट करने की तैयारी चाहिए। तब स्वयं मरकर शायद वह शत्रु की शत्रुता को भी मार दे। ऐसे ही शत्रु मित्र बनेगा।

भय-जात साहस भय-जात कायरता से तो अच्छा ही है। पर चूंकि दोनों भय-जात हैं इससे उनमें बहुत कुछ समता भी है। हिंसक लड़ाई में दीखने वाला साहस एक प्रकार की कायरता ही है, और जब लड़ाई चल रही हो तो कायरता से बड़ा जुर्म कोई नहीं।

ब्लैक आउट जन-हित में ही किया जाता होगा। पर उसमें सचमुच हित होता है यह सन्दिग्ध है। हिसाब लगाकर देखना चाहिये कि उससे कितनी जानें बचीं। बचने वाली जानें कुछ हों भी, पर यह सच है कि उससे सब लोगों में एक दहल पैदा होती है। उस दहल के नीचे सामरिक कर्मण्यता की स्फूर्ति भी पैदा होती होगी। इससे तबियत में होल और शायद उस कारण वस्तुस्थिति की भयंकरता का आतंक भी बढ़ सकता होगा। ये कि चारों ओर आशंका के बादल और शत्रु के षड्यंत्र हैं, कुछ ऐसी प्रतीति लोगों के मनों में हठात् घर कर सकती है। सामरिक मनोवृत्ति को फैलाने और मजबूत करने के काम में यह भारी मददगार क़दम है और उस दृष्टि से अवश्य उपयोगी है।

कहा जायगा कि मूर्ख के स्वर्ग में आप रहिये। हम तो यथार्थता में रहते हैं। सच यह है कि दुश्मन है। हजारों जानें रोज़ जा रही हैं। और आप कहना चाहते हैं कि दुश्मनी भ्रम है? दुश्मनी अच्छी बात

नहीं ये हम भी जानते हैं, पर कहने भर से वह मिट जाती तो बात ही क्या थी। इसलिए उसे हम स्वीकार करके ही चल सकते हैं। आप अंधे हठ में मानते रहिये उसे अपना मित्र, पर वह आयेगा और आपको और आपकी मित्रता को पल भर में स्वाहा कर देगा। नहीं, हम यह मूर्खता नहीं कर सकते। शत्रु आता है तो हम कहेंगे कि आओ, यहाँ तुम्हारा महा-शत्रु बैठा है। यथार्थता से आंख मींचकर मरा जा सकता है, ज़िन्दा नहीं रहा जा सकता। हम लोग ज़िन्दा रहने वालों में से हैं। इसलिए यथार्थता को पहचानकर हम उसके सामने की तैयारी में सावधान होने से विमुख नहीं हो सकते। शत्रु ने फ़ौज खड़ी की है, हम सवा फ़ौज बनायेंगे। हमारा बहरी बेड़ा और हवाई सेना और बम बारूद और तोप-टैंक सब उनसे बढ़कर होंगे। हम शान्ति चाहते हैं और सभ्य नागरिक हैं। पर शत्रु सभ्यता का दुश्मन है। वह बर्बर होकर हम पर चढ़ने आता है। हम बता देंगे कि उसकी मनचीती होने वाली नहीं है। और ऐ लोगो, तुम भी मानवता की रक्षा के लिए कटिबद्ध खड़े हो जाओ। छोड़ दो उन दो-चार को जो सपने लेते पड़े रहना चाहते हैं। हमारी दया है कि हम उन सनकियों (Cranks) से नहीं बोलते। वैसे तो लड़ाई के वक्त बचने वालों की सजा मौत ही होना चाहिए थी। पर वे भोले हैं और मूर्ख हैं, आंख खोले वे अंधे हैं। अपने में मुंह गाड़कर आदर्श की बात करते हैं और यथार्थ को पहचानते नहीं। मत उनकी सुनो। दुश्मन बढ़ रहा है और हम दुश्मन को जीतेंगे। पर ऐ लोगो, तुम सबको तत्पर रहना चाहिए। दुश्मन तुम्हारे घर बार को, इज़्ज़त को, सब को उजाड़ देना चाहता है, वह सब हड़प कर जाना चाहता है। लेकिन तुम वीर हो—आन पर मर मिटोगे। पर भाइयो, सोचो, दुश्मन की तदबीरों को हम पहले से क्यों न हरा दें? इसलिए ब्लैक आउट होगा। इसलिए गैस मास्क का इस्तेमाल सीखो और फ़ौज में भर्ती होओ और रुपया जमा करो और अपनी कोरें भेजो और····

यथार्थता ठीक है। उसको पहचानना होगा। पर वह यथार्थ होने

में आई कैसे ? आज का दुश्मन, दुश्मन कैसे बना ? आज लड़ाई है, सही । पर कल क्या बोया था कि आज लड़ाई का फल मिल रहा है, यह समझना भी क्या ज़रूरी नहीं है ? आज का आज हम पर आसमान से नहीं टपका, वह हमारे कल में से बना है । इसलिए यह कहकर कि आज का यथार्थ ये है, हम उसकी परम्परा को ज्यों-का-त्यों कैसे चलने दे सकते हैं ? कल का फल आज भुगतना होगा, पर जो फल आने वाले कल के लिए चाहते हैं, उसका बीज क्या आज बो चलना ज़रूरी नहीं है ? इसलिए यथार्थ का तर्क ही सम्पूर्ण तर्क नहीं हो सकता । यथार्थ की यथार्थता के भीतर जायंगे, तो देखेंगे कि विषफल की बेल को एक रोज़ तो समाप्त करना ही है । इसलिए यथार्थ से झुकना नहीं, बल्कि उसे संभालना है । नहीं तो शत्रुता के चक्कर से छुटकारा कैसे मिलेगा ? शत्रु के भय में से शत्रुता की बेल हरी होती है । दनुजों की कथा में सुनते हैं कि एक मरता था, तो उसकी जगह सौ हो जाते थे । इसलिए यदि कभी जाकर शत्रुता को इस धरती पर से मिटना है, तो उसे मिटाने का आरंभ आज ही कर देना होगा । यदि आज नहीं तो उसका आरम्भ कभी भी न हो सकेगा, क्योंकि यथार्थता का तर्क ज्यों-का-त्यों सिर पर लटका रहेगा ।

मतलब यह नहीं कि 'शत्रु मित्र वदाचरेत्' कहकर हम उसकी खोटी लालसाओं को बढ़ावा दें । नहीं, हम प्रतिरोध करेंगे । अपनी आत्मा को बेचकर उसके भीतर के दानव को हम भोज्य नहीं देंगे । अपनी आत्मा को सुरक्षित रखकर उसकी आत्मा को भी सुरक्षित करने का साधन करेंगे । वह अपने को भूल रहा है । वह फाड़ खाने को आता जो दीखता है, सो तो पागलपन है । शायद वह सताया हुआ है । ज़रूर किसी त्रास ने या भय ने उसे ऐसा बना दिया है । वह उसकी असली प्रकृति नहीं, विकार है । अगर ईश्वर है तो उसमें भी है। पर हम अपनी ईश्वरता को उसके समक्ष करके ही उसकी असलियत यानी उसकी आत्मा को छू सकेंगे । उसके थप्पड़ के आगे अपना मुक्का करके वह काम नहीं किया

जा सकता। हां, थप्पड़ के आगे मुख किया जा सकता है। यह लाचारी के सबब नहीं, बल्कि खुशी के साथ किया जाता है, तो सन्देह नहीं कि उस थप्पड़ में मारने वाले का गर्व कम हो जायगा।

ऊपर कहा गया है कि युद्ध के समय उपदेश बेतुका है। उस समय कर्म की उत्कटता चाहिए। अर्थात् यदि चाहिए तो शान्ति का उपदेश नहीं, शान्ति का कर्म चाहिए। और अहिंसा की माला नहीं, अहिंसा का युद्ध चाहिए।

जो मरने से डरता है, उसे कोई क्यों पूछे? पर जो नहीं डरता उसे तो पूछना ही होगा। किन्तु निडरता कोई कर्महीन स्थिति नहीं है। वह कर्मठता के साथ ही टिक सकती है। हम निडर हैं, ये हमारे मानने का विषय नहीं। निडर हम तभी हैं जब दुनिया कहे कि हम निडर हैं। अर्थात् निडरता कोई अव्यक्त तत्व नहीं है, बल्कि व्यक्त प्रभाव है। व्यक्त नहीं तो उसका कुछ अर्थ नहीं। व्यवहार में निडरता ही सच्चे योद्धा का लक्षण है। हिंसक योद्धा उद्दण्ड हो सकता है। बल्कि किंचित् उद्दण्ड होना उसके लिए अनिवार्य है। क्योंकि मूलतः हिंसक युद्ध की प्रेरणा एक गहरे हीन भाव Sense of inferiority में से आती है। दूसरे शब्दों में उसकी जड़ में आतंक या भय होता है। इसी से उसके फल में शेखी और उद्दण्डता देखने में आती है। अहिंसक योद्धा में वैसी संभावना ही नहीं। वह समभावी है। इससे वह ऐसा योद्धा है कि कभी किसी परिस्थिति में किसी के प्रति उद्दण्ड नहीं हो सकता। वह सदा सविनय है। पर इस्पात की तरह दृढ़ भी है। मौत तक उसको नहीं तोड़ सकती यों सबके आगे वह झुका हुआ है।

मेरी कल्पना है कि वीरता का आदर्श ऊँचा उठता जायगा, तो इसी जगह पहुँचेगा। वीर यदि क्रूर नहीं है, तो इसीलिए कि उसमें विवेक का मार्दव है। और इस जगत् में सच्चा वीर वही हो सकता है, जिसे इस जगत् के यश और वैभव में कोई आसक्ति नहीं, जो यदि योद्धा है तो

असत्य के ख़िलाफ, और आसक्ति है तो उस सत्य की जो प्राणि-मात्र की गहराई में स्थित है।

अखबारों के प्रचार से और 'ब्लैक आउट' के अभ्यास से और तरह-तरह की तैयारियों से जो तात्कालिक फल होता है वह यही कि हम में मौत का डर और सुरक्षा की चिन्ता समा जाती है। स्पष्ट है कि इस वृत्ति में से जो साहस उठेगा वह कृत्रिम साहस होगा। वह अपने विश्वास पर नहीं, बल्कि किसी के विरोध पर, यानी शत्रु की शत्रुता पर स्थापित होगा। इससे शत्रु के प्रबलतर साबित होने पर वह साहस टूटकर कातर भय को जगह दे रहेगा। और ऐसा ही देखने में भी आता है। हिंसक लड़ाई में एक हद तक ही सिपाही लड़ते हैं, फिर भाग रहते हैं, या हथियार डाल रहते हैं। ऐसा इसलिए होता है कि शत्रु को सामने रख कर ही वह साहस उपजाया जाता है। वह सीधा शत्रु के डर में से ही आता है। इससे शत्रु के हावी होने पर वह उड़ जाता है।

अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र मे निःशस्त्रीकरण की बात होती रहीं। पर अविश्वास से घिरकर निःशस्त्रता में हरेक को अपनी निर्बलता मालूम होती है। अपने को कोई निर्बल नहीं चाहता। भयभीत के लिए तो पलायन अथवा युद्ध ही उपाय है। सक्रिय विश्वास और प्रीति विस्तार में से ही निशस्त्रता का साहस आ सकता है। तब निशस्त्र होकर राष्ट्र निर्बल नहीं, बल्कि सच्चे अर्थों में बलशाली अनुभव करेगा।

बीच में कांटेदार तार दो पड़ोसियों के प्रेम को महफ़ूज़ नहीं बना सकता। यह बहस कि कांटे कितने पैने हों या कितने घनें हों, व्यर्थ है। शस्त्रों की समगणना के आधार पर निःशस्त्रता नहीं आ सकी। न कभी आ सकेगी। और शस्त्र की व्यर्थता तो देख ही ली गई है। शस्त्र की दौड़ की कोई हद नहीं। बीच में अविश्वास है तो अधिक-से-अधिक शस्त्रास्त्र भी थोड़े मालूम होंगे। बराबर ख़याल रहेगा कि अभी कुछ और चाहिए और निगाह रहेगी कि दुश्मन ने कितने बनाये हैं।

साफ़ है कि ऐसी हालत में एक देश या राष्ट्र दूसरी ज़रूरी बातों

के लिए, ज्ञान-विज्ञान और कला-संस्कृति के संवर्धन की चिन्ता के लिए खाली नहीं रह सकता। जो पड़ोसियों से अनबन मोल ले बैठा है, उससे नागरिकता के विकास में क्या मदद मिल सकती है ? ऐसे ही जो चारों ओर शत्रुताओं से घिरा है, मनुष्यता के विकास में वह क्या सहायता पहुँचा सकता है ?

किन्तु इतिहास हम से क्या चाहता है ? हम जा किस लिए रहे हैं? मनुष्य जाति किस ओर बढ़ती आई है ? और किस दिशा में उसे बढ़ते जाना है ? क्या वह दिशा परस्पर का बढ़ता हुआ ऐक्य ही नहीं है ?

यदि वह ऐक्य है, तो हिंसा से उस ओर गति न होगी। हिंसा अपने फल में हिंसा ही दे सकती है। और जब तक हिंसा के द्वारा राष्ट्र और राष्ट्र के बीच के सवालों का निपटारा देखा जायगा, तब तक मानना चाहिए कि वह सवाल कभी हल भी न होगा। और तो और घर में हम अपने तीन बरस के बालक से ज़ोर ज़बरदस्ती के आधार पर हार्दिक सम्बन्ध नहीं बना पाते। जब-जब हमने थप्पड़ का उपाय हाथ में लिया है, समस्या कसती ही गई है। तत्काल तो मालूम होता है कि मामला कुछ हल्का पड़ गया है, पर असल में गांठ उससे सदा कुछ गठीली होती देखी गयी है। बच्चे में अहम पैदा होने पर जब उसको ज़ोर-ज़ब्र से रास्ते पर नहीं लाया जा सकता, तो राष्ट्र का 'अहम' तो और भी व्यापक और ठोस वस्तु है। उसका उपचार फिर शस्त्रास्त्र के बल पर ठीक कैसे हो सकता है ?

कहा जायगा कि यह बातें तो ठीक हैं, पर ठंडक की हैं। अभी तो आग लगी है। ऐसे वक्त उनका कहना और सुनना जुर्म है। आग बुझनी चाहिए, तब दूसरी कोई बात होगी।

पर आग बुझनी चाहिए कि लहकनी चाहिए ? अगर उसे बुझना है तो ऊपर की बात न सिर्फ असंगत है, बल्कि वही एक संगत बात है। आग से अपनी जान बचाने तक का ही हमारा कर्त्तव्य नहीं है, क्योंकि भागकर जान बचाने का काई रास्ता ही नहीं है। ब्लैक-आउट इत्यादि से

उनसे जान बच सकती है और बचानी चाहिए—इस तरह का भ्रम पैदा करने वाले प्रयोग हैं। वे एक तरह शत्रु की शक्ति की पुनः सूचना और उसके पूर्व निमंत्रण का रूप हैं। माना जा सकता है कि नगर में बसने वाले निर्दोष स्त्री-पुरुषों और बाल-बच्चों की रक्षा का किंचित् उपाय इस प्रकार होगा। पर सोचने की बात है कि उन निर्दोष स्त्री-पुरुषों पर आसमान से हमला हो, यह स्थिति ही बनने में कैसे आयी ?

हम सरकार को धन्यवाद दे सकते हैं कि उसे हमारे जान माल की रक्षा की चिन्ता है। वह शत्रु के हाथों हमें लुटवाना नहीं चाहती। उसकी फौज सरहद पर है और सब नाकों पर है और उसका सरकारी इन्तज़ाम सब जगह फैला हुआ है। सरकार हमारे देश की रक्षा करेगी। हम उसकी सुनें और उसके आदेश का पालन करें। ऐसे संकट के समय सचमुच हमें कृतज्ञ होना चाहिए कि सरकार की दृढ़ भुजाएं हमारी रक्षा को उद्यत हैं। हाय ! सरकार न होती तो हम कहां होते ? ऊपर के शत्रु के लिए तो खुले शिकार होते ही, भीतरी गुण्डे भी हमें क्षत-विक्षत किए रहते। दुहाई है कि सरकार है और हमें उसकी सुरक्षा में ब्लैक आउट के प्रयोग की शिक्षा मिल रही है।

सिर पर आ गई स्थिति को देखते सरकार की छत्र-छाया निश्चय ही हमारे लिए परम सन्तोष का विषय हो सकती है। पर हमने क्या किया है कि पश्चिम का कोई देश हमारा दुश्मन बने ? पश्चिम की लड़ाई पूर्व में क्यों आ गई है ? यह तो ठीक है कि पश्चिम और पूर्व दो नहीं हैं। पर पूर्व का यह भारत क्यों आज अपने ही निर्णय से लड़ाई में कुछ मदद करने में असमर्थ है ? संकट इस पर इसी से तो है कि यह एक पश्चिम के मुल्क के साथ नत्थी है और उसकी शत्रुता-मित्रता को ओटने के लिए लाचार है। स्थिति विषम है, पर क्यों वह हिन्दुस्तान के बावजूद हिन्दुस्तान के लिए भी विषम है ? ठीक है कि हिन्दुस्तान के व्यवस्थापक आज उसकी चिन्ता से चौकन्ने हैं। पर क्या यह भी उन व्यवस्थापकों की ही करनी नहीं है कि वह आज आत्म-निर्णय में असमर्थ है और

कि वह अन्तर्राष्ट्रीय गीधों की निगाह में सिर्फ सस्ता शिकार बन गया है ? आज यदि यह स्थिति है तो उसका कारण ढूंढ़ना होगा। उस कारण के लिए हम अपने व्यवस्थापकों से बाहर कहाँ जायं ? ब्लैक-आउट और इस प्रकार के दूसरे हितोपायों के लिए जिस सरकार के हम कृतज्ञ हैं, उसी सरकार के पास हम आज की स्थिति का यह अभियोग भी ला सकते हैं।

कौन जानता है कि हिन्दुस्तान की मिल्कियत ने इङ्गलैंड को पश्चिम को दूसरी सशक्त राष्ट्र-नेताओं के लिए और लोभनीय ही नहीं बनाया ? इङ्गलैंड को मौका था कि हिन्दुस्तान को वह अपनी सम्पत्ति न मानकर अपना साथी बनाता। मित्र हिन्दुस्तान इङ्गलैंड के बल को मज़बूत करता। पर हिन्दुस्तान इङ्गलैंड के लिए परिग्रह रहा। इङ्गलिस्तान का यह भोग्य रहा। उससे इङ्गलिस्तान के चरित्र पर धब्बा लगा और हीनता आई। उसमें साम्राज्य-लिप्सा पैदा हुई। इसी से दूसरे मुल्कों की आंखों में वह कांटा बना। हिन्दुस्तान उसकी इस वृत्ति से शक्ति और पौरुष से हीन बना। क्या अचरज कि वह और सत्ताओं के मुंह में पानी आने का कारण बना।

ऐसे आज यह हालत बनने में आई है कि सरकार को कहने का मौक़ा मिलता है कि हिन्दुस्तान ख़तरे में है और हिन्दुस्तान भी महसूस करता है कि वह ख़तरे में है, कि जब ब्लैक-आउट होते हैं और लोग सोचते हैं कि उनका होना कल्याणकारी है। लोग अपने को असहाय पाते हैं और इस तरह सरकार की थोड़ी-बहुत जितनी है उतनी ही-सी शस्त्र-शक्ति को दुहाई देते हैं। सरकार को इस तरह अपना समर्थन प्राप्त होता है। पर हम चाहते हैं कि उस समर्थन के भीतर ही जो एक निश्चित अभियोग है वह भी सरकार को प्राप्त हो और सरकार जान ले कि जिस संकट से रक्षा देने का काम वह अपना बतलाती है, उस संकट को सिर पर लादने का ज़िम्मा भी उसी का है।

हिन्दुस्तान का इस्तेमाल करने की इङ्गलैंड की बुद्धि आज संकट के

समय कुछ शुद्ध हो सकती थी। वह हिन्दुस्तान के हृदय को पाने की ज़रूरत इस समय महसूस कर सकती थी। पर उसने मन नहीं चाहा, धन चाहा। मैत्री नहीं चाही, सिर्फ लाभ चाहा। आत्मा नहीं मांगी, उसके शरीर पर ही आंख रखी। इससे इङ्गलैंड का नैतिक पतन हुआ और हिन्दुस्तान का भी। इससे साम्राज्य नाम का एक दम्भ खड़ा हुआ। कामनवेल्थ शब्द के नीचे उस दंभ के ढकोसले को छिपाया नहीं जा सकता। सफ़ेद जाति का वह दंभ उसके लिए भारी पड़ रहा है और पड़ेगा। यह विधान शासित और शासक दोनों जातियों को अमनुष्य बनाता है। दोनों उससे गुलाम बनते हैं। शासक इंद्रियों का गुलाम और शासित उस गुलाम का गुलाम बनता है।

भारतवर्ष के शासक भारत को भारतीय बनाये होते, तो आज शायद उन पर और भारत पर संकट का दिन भी न आता। भारत स्वाधीन होता और सशक्त होता। और मनुष्यता की राह पर तब वे दोनों एक दूसरे को और शेष दुनिया को चलाने में सहयोगी होते। ऐसा होता तो इङ्गलिस्तान की नैतिक साख असंदिग्ध होती। भारत का संस्कृति-बल और धन-जन बल मिलकर विलायत की बड़ी-से-बड़ी पशु-शक्ति के निकट अविजेय होता। तब क्या आज की लड़ाई होती? या होती भी तो क्या टिक सकती?

पर वह होना न था। दुनिया को बुरे दिन देखने थे और आदमी में अभी तृष्णा का राज था। शायद साम्राज्य बनाने और बढ़ाने वाले अंग्रेज ने बहुत आगे नहीं देखा। उसने शायद समझा कि वह अपनी जाति का यश-विस्तार कर रहा है। ऐतिहासिकों ने उसे इस भ्रम में मदद पहुंचाई। साहित्य ने बढ़ावा दिया। 'साम्राज्य' पर विलायत को और विलायती को गर्व हुआ। उसने न जाना कि ईश्वर के इस जगत् में आदमी का गर्व खर्व होता है। वह मोह में धर्म को भूल गया। और विधाता की लीला को कौन जानता है? कौन जानता है कि सफ़ेद और काले आदमियों के संचित पापों का ही यह प्रतिफल नहीं है?

किन्तु फल सामने फूटा है, तो वहीं से हम अपने तर्क का आरंभ न करें। बम ऊपर से गिरेगा तो हम किस तहख़ाने में डुबकी मारकर बचेंगे, हमारे सोच विचार के लिए कोई यही विषय नहीं। आदमी की बुद्धि को आसन्न ख़तरे से घेरकर मूल प्रश्न पर विचार करने के लिए असमर्थ ही बना दिया जाता है। ब्लैक-आउट इत्यादि लोक-मानस पर ऐसा ही आतंक मय असर डालते हैं। जैसे अपनी जान बचाने से बड़ा कोई तत्काल धर्म हमारे लिए है ही नहीं। आज लोक-मानस कुछ उसी वृत्ति से त्रस्त है। घर-घाट और हाट-बाट की चर्चा सुनिए, सब कहीं वही एक प्रश्न है कि कौन कैसे बचे ? हवा ऐसी संक्रामक है कि बिरला उससे अछूता बचता है। मन खोखले हुए जा रहे हैं और चारों तरफ़ अविश्वास बढ़ता जा रहा है। वैश्य संकट में अपने बचाव की सोच रहा है, तो गुण्डा अपने मौक़े की सोच रहा है। साम्प्रदायिक और राष्ट्रीय और श्रेणीगत अविश्वास तीखा पड़ रहा है और जान पड़ता है कि ऊपर से सरकारी शक्ति का ढकना ढीला हो कि भीतर से वह अपना गुल खिला आये।

ऐसे समय सही बुद्धि और अहिंसक कर्म की बहुत आवश्यकता है। अहिंसक कर्म धन का और सत्ता का विकीरण करता है। उनके केन्द्रीकरण पर बसे हुए बड़े-बड़े शहर जो दुश्मन के लिए प्रलोभन होते हैं—अहिंसक कर्म से वे बिखरेंगे। वैसे कर्म से गांव बसेंगे और उनकी खुशहाली बढ़ेगी। लाखों ख़ुशहाल और स्वाधीन गांवों वाले हिन्दुस्तान को किसी दुश्मन से किसी डर की ज़रूरत न रहेगी। गांवों पर बम डालना पैसे के लिए अशर्फ़ी बर्बाद करना होगा। और कोई मूर्ख नहीं जो यह करेगा। तब सोशल इकांनामी (Social Economy) का ढांचा ही दूसरा होगा। तब सत्ता का इस मुट्ठी से उस मुट्ठी में आ रहने का सवाल ही न रहेगा। क्योंकि तब वहां किसी की बंधी मुट्ठी हो ही न सकेगी। दुश्मन तब कोई होगा भी, तो वह उस सोशल इकानामी में जज़्ब हो जायगा, क्योंकि उसके पास कोई साधन न होगा कि वह उसको तितर-बितर कर सके। वह पहले ही ऐसी छितरी हुई होगी कि उसका केन्द्र

हर जगह होने के कारण कहीं नहीं होगा ।

कहना कठिन है कि ऊपर जो बादल आये हैं, बरस कर वह क्या क़हर बरपा करेंगे । पर यह निश्चय है कि कभी मानव जाति को अगर संगठित शक्ति के त्रास से छुटकारा मिलेगा, तो तभी जब प्रत्येक व्यक्ति पर्याप्त शारीरिक परिश्रम करने वाला होगा । जब कि उपज और खपत, और श्रम और पूंजी के बीच इतना फ़ासला न होगा कि बीच में बटाव के लिए किसी तीसरी बुद्धि या शक्ति की जरूरत हो । जब आर्थिक समस्या न्यूनतम हो जायगी और मनुष्य की समस्या नैतिक और आध्यात्मिक ही हुआ करेगी । जब आर्थिक अभाव नहीं, बल्कि हार्दिक सद्भाव मनुष्य को चलाया करेगा ।

: १६ :

दही और समाज

गर्मियों के दिनों में दूध अच्छा नहीं लगता है दही अच्छा लगता है। साथ ही खाना अच्छा नहीं लगता, पीना अच्छा लगता है। इससे सवेरे-शाम जो दूध आता है सो जमा दिया जाता है। फिर उस जमे पदार्थ को पीने लायक बनाने के लिए उसमें कितना ही पानी डालना जरूरी है।

एक रोज श्रीमती ने दूध-वाले को ऐसा सुनाया कि क्या पूछिये! कहा कि दूध लाते हो या तमाशा करते हो? दूध में उंगली डालकर, फर्श पर बूंद टपकाकर दिखाया कि यह दूध है, या पानी है?

दूध वाले ने नम्रता से कहा कि अजी दूध तो खालिस गाय का है।

श्रीमती ने सूचना दे दी कि और दो-चार रोज देखते हैं। दूध ऐसा ही आया तो दूसरे से लेना शुरू कर देंगे।

मैंने भी देखा कि दूध एकदम तरल है। बहाओ तो बह जायगा, छलकाओ तो छलक जायगा। पर शाम ,के इसी-दूध को देखा तो सवेरे चकत्ता जमा हुआ है। हंडिया को हिलाते हैं, डुलाते हैं, पर उस पत्थर से जमे दही में कंप-कपी भी नहीं होती।

अब लोग हैं जो कहते हैं कि अजी अकेले भला क्या किया जा सकता है। चना अकेला भाड़ का क्या बिगाड़ेगा? एक के बदलने से क्या होता है। बदलनी तो दुनिया है। समाज नहीं बदले, और परिस्थति नहीं बदलीं, और मूल्य नहीं बदले तो किसी एक अकेले के अपने को बदलने की कोशिश

करने से क्या होना जाना है। अजी साहब, समाज-व्यवस्था का ढांचा ही बदलना होगा। व्यक्ति जो अपने को बदलता, और इसलिए अपने बदले जाने में जो संतोष मानता है, भ्रम में है। यह तो कूप-मंडूकता है। आपने खद्दर पहन लिया, चरखा चला लिया, और समझ बैठ कि शोषण आपने दूर कर दिया। बस पूंजीवादी जीवन-नीति का यही ढकोसला और यही छल तो है। धर्म कर लिया और मन को बहला लिया। लेकिन साहब, व्यक्ति इस तरह अपने को बदलता और चैन मानता है तो इससे यही बड़ा नुक्सान होता है कि उस व्यक्ति में जो सामाजिक असंतोष होना चाहिए वह नहीं रहता। प्रगति की संभावना उसमें से नष्ट हो जाती है। वह गऊ-भगत बन जाता है। पूंजीवादी विधान को अनजाने वह मजबूत करता है। यह जो आपकी अपरिग्रह और अहिंसा है न, इसमें यही खतरा है। आदमी अपने सुधार के चक्कर में पड़ जाता है और समाज को अनसुधरा रहने देता है। धर्म की व्यर्थता यही तो है। बताइये भला कि व्यक्ति की भी कोई सत्ता है। व्यक्ति परिस्थितिओं की उपज है। आप उससे बाहर निकल ही नहीं सकते। धर्म की बात और आत्म-सुधार की बात तो बचाव जैसी है। सामने कर्तव्य की चुनौती है और आप धर्म में मुंह गाड़ते हैं। चाहिए तो यह कि क्रान्ति की तैयारी करें, और आप भलाई सिखाने की सीख देते हैं। बुरे विधान के नीचे भला होना सम्भव ही नहीं है। भले बनने की कोशिश पहले ही से बेकार है। वह बालक के अंगूठा चूसने जैसी है। अपने अंगूठे में रस लेते रहिए और बाहरी जगत् के लिए मूढ बने रहिए। जी नहीं, व्यक्ति नहीं बदल सकता। समाज बदले तभी व्यक्ति के बदलने की संभावना है।

पूंजीवादी समाज-व्यवस्था से बेहद क्रुद्ध एक साथी मिले। साथी थे, इधर आठ—एक बरस से साथ छूट गया था। क्रान्ति की लगन उनमें पहले से कम नहीं पाई। पूंजीवादी विधान के प्रति क्रोध कुछ अधिक ही उत्क्रुद्ध दीखा। पहले गांव-गांव डोलकर किसानों का काम करते थे। लेकिन शायद उन्होंने पा लिया कि ऐसे कुछ न होगा। असल चीज पूंजी-

वाद है। उस पूंजीवाद से खुद उसके अस्त्रों से ही लड़ा जा सकता है। पूंजीवाद की जगह समाजवाद चाहिए। समाजवाद के प्रचार के लिए पूंजी चाहिए। इसलिए समाजवादियों को पहले पूंजी बनानी होगी, तभी पूंजी और पूंजीवादियों को चुनौती दी जा सकेगी। 'साथी समझदार थे, और समझकर उन्होंने यह सत्य पाया और गांठ बांध ली। अब देखता हूं कि एक इंश्योरेन्स कम्पनी के प्रधान ऑर्गनाइजर हैं।मोटर उनके पास है। दूसरे दर्जे में सफर करते हैं। उनसे मुझे मालूम हुआ कि क्रान्ति होगी, और जल्दी होगी। गांधीजी का चर्खा उसे नहीं रोक सकेगा। उन्हीं से यह मालूम हुआ कि समाज बदले तभी व्यक्ति बदल सकेगा, और कि उन दिनों गांव-गांव भटककर उन्होंने अपनी जिन्दगी बरबाद की थी। अब देखिये कि कोई चार दर्जन अपने कार्य-कर्त्ताओं को मैंने काम से लगा दिया है। नाम कम्पनी का, काम समाजवाद का। साथी अब खुद किसी लायक अपने को पा रहे हैं। पहले क्या था ? पूंजीपतियों के हाथ की कठपुतली ही हम थे। अब पूंजीपतियों के घर में दाखिल होकर अन्दर से सेंध लगा सकते हैं। पांच सौ माहवार मिलते हैं, मोटर मकान का भत्ता अलग। अब पूंजीपति नहीं कह सकता कि हम कुछ नहीं है।

बोले, आप कहेंगे कि मैं समाजवादी नहीं हूं। तो मैं कहूंगा कि आप समाजवाद जानते ही नहीं। भाई, दुनिया आदर्श नहीं है। चलना चलने के ढंग से होता है। समाजवाद में खूबी है तो यही कि वह व्याव-हारिक आदर्श है। पहले भी तो मैं ही था। गांधी के नाम पर नंगे पांव गांव-गांव डोलता फिरता था। पर उससे क्या हुआ—मैंने क्या पाया ? दुनिया ने क्या पाया ? अब देखिए कि मैं कुछ हूं, और दो चार का भला कर सकता हूं। समाजवाद यही कहता है कि निजी आदर्श के फेर में न पड़ो। तुम आखिर क्या कर लोगे ? रेल है, डाक है, तार है, पैसा है। इन सबके ऊपर सरकार है, तब तक और भी सब कुछ उसके मुताबिक है। काम असल है उसको बदलना। उसके लिए फिर ताकत चाहिए।

इसलिए हमारा प्रोग्राम पहला हो सकता है Capture of power--
फिर जो काम बरसों में न हो, वह क्षणों में होजायगा।

मेरे साथी मित्र बढ़ गये हैं। भगवान उनका भला करे। लेकिन शाम का पानी-सा दूध यह जो सवेरे अचक पत्थर-सा हो गया है, सो कैसे ?

पर आदमी की बात के बीच ये दूध-दही प्रक्षिप्त विषय हैं ? आये दूध, कृपा होगी, और पी लिया जायगा। गर्मी के दिन हैं तो दही मथकर लस्सी ले आई जाय। तब उसके साथ न्याय किया जायगा। पर चर्चा वास्तविक यह है कि आदमी अकेला क्या कर लेगा ? हरिश्चन्द्र ने सत्यवादी होकर क्या कर लिया? युधिष्ठिर धर्मराज होकर हिन्दुस्तान को कौन तार गये ? और हिमालय की कन्दराओं में जो ऋषि महात्मा सुने जाते हैं उन्होंने हमारा कौन दुख हर लिया है ? बांस अपनी जगह लम्बे-से-लम्बा होजाय, तो क्या इसी कारण उसके आगे सिर झुकायें, और अपनी बुद्धि को गंवा दें ?

बात पक्की है। समुद्र में बूंद क्या बनाये ? शर्बत की बूंद डालिए, समुद्र क्या मीठा हो जायगा ? वह बूंद सोचा करे कि मेरा मिठास समुद्र को मीठा कर रहा है। पर वह विचारा नहीं जानती कि समुद्र के खारे-पन के बीच उसका मिठास निरी व्यंग है। वह अपने को मीठी जानती है तो अपने को नहीं जानती।

बात कुछ ऐसे फौलादी तर्क की है कि जवाब नहीं बन सकता। इसलिए अगली शाम जब दूध आया और गर्म करने के बाद जमाया जाने लगा तो मैंने श्रीमतीजी को पकड़कर कहा, 'सुनो जी, बताओ, तुम किस जादू से पानी-दूध को चकत्ता दही कर देती हो।'

श्रीमती ने कहा, मजाक का वक्त तो देखा करो ! छोड़ो, मुझे काम करने दो।

मैंने स्त्री की मति पर चाहा कि माथा ठोक लूं। यहां गहन जिज्ञासा है और यह ठठोली समझती हैं। उन्हें कब पता चलेगा कि उनसे बाहर

भी कुछ दिलचस्पी के लिए हो सकता है। बेशक किन्हीं (विशेष कर हमारी) श्रीमती का माहात्म्य कम नहीं है। उनके कारण मैं पति और पिता बनने के अनंतर निकम्मा तक बना हूं। लेकिन··खैर, उत्तर में मैंने कहा, 'ठठोली न जानो, सच बताओ कि तुम यह करती क्या हो ?'

इस बार उन्होंने हंसकर कहा, 'अच्छा, अच्छा, बस मुझे यह दही जमा लेने दो।'

मुझे उनके हंसने पर बड़ा गुस्सा आया। क्या मैं कोरा पति ही हूं, तात्विक बिल्कुल नहीं हूं ? मैंने कहा, 'सुनो जी, तुम्हारी नहीं, दही की बात है। दही कैसे जमता है ?'

बोली, "देख लो, जमा तो रही हूं।"

मैंने देखा। देखा कि वह अन्दर से चिपिया में रखा जामन लाईं। जामन यानी दही की फुटक। दूध था ढाई सेर। दही की मात्रा इतनी कि एक फूंक मारो तो हजरत हवा में हवा हो रहें !

श्रीमती जी उस दही को उंगलियों पर लेना ही चाहती थीं कि मैंने झपटकर उस चिपिया को छीन लिया। कहा, 'ठहरोजी, ग़ज़ब किये डाल रही हो !'

श्रीमतीजी ने प्रसन्नता दाबकर कहा, 'यह तुम्हें कभी क्या हो जाता है !'

मैंने मन में कहा कि हाय, दही से या दुनिया की किसी चीज से कोई श्रीमती अपने को बढ़कर मानना क्या कभी नहीं छोड़ सकेंगी ? सचमुच, क्या कभी भी नहीं ?

बोला, 'देखो, आज एक पुराने साथी मिले थे। समाजवाद का तुमने नाम सुना होगा। पर तुमने क्या सुना होगा, वह गहरी चीज है। उन मित्र ने उसकी थाह ली है। वही आज मिले। इसीसे तो कह रहा हूं कि तुम आज दही नहीं जमाने पाओगी। पहले मुझे तुम अपना जादू समझाओ।···अरे नहीं, आंख का जादू तो मैं जानता हूं। नहीं-नहीं,

वह जादू आँख में लेके मुझे न देखो, दुहाई तुम्हारी। आज तुम दही न जमाओ। मुझे बताओ—मैं जमाऊंगा।'

यहां जरूरी है कि श्रीमती की कथा को बाद दें। वह घर की निजी बात है। परिणाम भर कह दें। सो यह कि श्रीमती का अभाव पाकर चिपिया में बैठे उस नन्हें-से दही से मैंने सीधी बात-चीत शुरू की। कहा, 'हजरत, सच कहिए कि वह आप हैं, जो इतने दूध को कुछ घंटे में दही कर देते हैं ? यूं तो आप पर मुझे तरस आता है। क्या तो जनाब की हैसियत ! क्या डील-डौल ! वल्लाह ! लेकिन श्रीमती कहती हैं कि यह उनकी सिफ़त नहीं, आपका तुफ़ैल है। यकीन तो मैं क्या कर सकता हूं। तो भी मौका है कि आप अपनी कैफियत दें'

दही साहब कुछ नहीं बोले। ऐसा मालूम हुआ कि शरम के मारे वह कुछ और सफेद पड़ गये हैं।

मैंने कहा 'घबराइये नहीं। श्रीमतीजी के अलावा मैं किसी से बेजा सलूक नहीं करता। कुछ गुन हो आप में तो वैसा कहिए। और जो नाहक गुनहगार आपको माना जाता हो तो वह साफ कह दीजिए। तब आपको दूध के अन्दर नहीं डाला जायगा, बल्कि आराम के साथ पानी में तैरा दिया जायगा।

दही महाशय इस पर भी गुम रहे तो मुझे तैश आया। मैंने कहा कि 'देखिए जनाब ! आपकी नन्हीं-सी जान है, इसलिए इस बार आपकी गुस्ताखी माफ करता हूं। आप तो हो सकते हैं नाचीज, लेकिन मेरे सामने गहरा सवाल है। इसलिए मैं आपसे सच्ची कैफियत चाहता हूं। बयान कीजिए कि किस तरह इतने दूध को आप दही की शक्ल देने के इरादे रखते हैं।'

आखिर मेरी धमकियों से हज़रत को चेत हुआ। पर वह कुछ बोल नहीं सके। डबडब पानी भर लाये।

मैंने कहा—'ए भाई, यों पानी क्यों होते हो ? घबराओ मत। बेकसूर हो तो एकदम कह दो। मुझे तुम्हें दूध में फेंकने की जिद नहीं

है। तुम्हारे कहने की देर है कि तुम बरी। तब श्रीमती को कहूँगा, इस बिचारे दही पर अपनी बला क्यों टालती हो। जादू तुम में है, और खता इस बिचारे दही की बताती हो। बात यह है कि भाई, कि बिखरी समाज को हमें ठोस शकल देनी है। अब उस उसूल की ज़रूरत है कि जिससे यह काम हो। मुझे एक शास्त्र के शास्त्री ने ज्ञान दिया है। इसलिए मैं तो जानता हूं कि तुम्हारी अदना हैसियत में वह दम क्या हो सकता है। यकीनन श्रीमती के हाथों की सिफ़त है। उनके हाथ का ज़ोर जानता हूं। बच्चे के गाल पर पड़ जाता है तो आध घंटे तक दूसरी तरफ़ का गाल लाल नज़र आता है। उस हाथ की पावर की करामात से ही दूध ठोस बन सकता होगा। क्या मैं चारों तरफ़ पावर पोलिटिक्स देखता नहीं हूं। करामात जहाँ है, ताक़त की है। 'पाओ ताक़त' (Capture of power) से दूसरा सिद्धांत इस दुनिया में हो क्या सकता है। पर मैं जानता हूं श्रीमती का छल। अपना बल मेरे हाथों आने देने वाली वह नहीं है। तभी तो तुझ बिचारे को मेरे आगे कर दिया है। कह गई हैं कि सब करनी तेरी है। घबरा नहीं, भाई। पानी-पानी मत हो। तेरी शकल से देख रहा हूं कि तू हीन है। तुझमें कुछ नहीं है। कहां है तुझमें शक्ति ? तू क्या जानता होगा Will power बगैर विल Will कभी कुछ होता जाता है ? भोले लोग हैं जो ईश्वर को मानते हैं। पर लो, तुझसे भी मैं क्या कहने बैठा हूं। पानी हुआ पत्ते पर ढरता तो तू जारहा है। तू बिचारा क्या समझेगा। अब कह दे भाई ! ताकि मैं तुझे छुट्टी दूं और श्रीमती को बुलाकर कहूं कि ओ जादूगरनी, ले यह दूध, और कर दे इस पानी को अपनी शक्ति के जादू से पत्थर। सुना भाई, तू सब कबूल दे और तुझे छुट्टी है।'

आखिर बात शास्त्रीय ही सच निकली न ! मुझसे खरी-खरी सुनी तो दही गिड़गिड़ा आया। मेरे देखते-देखते वह काँपा, हिला और आँसू की भाँति पत्ते से बह निकला। आले में रखे पत्ते पर से बहती वह धार फर्श पर टपटप टपकने लगी। मुझे बेहद करुणा आई। मैंने उससे क्षमा

मांगी। कहा कि भाई, मेरा तुम कसूर न मानना। पत्नी नाम की स्वामिनी जो मेरे ऊपर हैं, वही अपने को बचाकर तुझे मेरी हिरासत में दे गई हैं। लेकिन तू निर्दोष है, यह मैंने अच्छी तरह देख लिया है। ले भाई, मुझे क्षमा कर और अब तू जा।

यह कहकर आँसू की धार में टपटप टपकते उस दही के पत्ते को आहिस्ता से मैंने अपनी मोरी में छोड़ दिया। वह पत्ता कृतज्ञता में भीगा मोरी के पानी को लहरों पर नाचता हुआ चला गया।

मैं अपने से खुश था। निर्दोष को बन्धन-मुक्त करने की खुशी कैसी होती होगी, इसका मैं तब अनुभव कर रहा था। कि हाय, तभी आ पहुँची सिर पर श्रीमती! बोलीं,'अब तक क्या हो रहा है? तब से दूध नहीं जमा?'

मैंने कहा, 'जादूगरनी तुम हो!

बोलीं, "क्या हो रहा है तुम्हें आज?"

मैंने कहा, 'छोड़ो, तुम नहीं समझोगी। आज शक्ति को मैंने पहचाना है। लोग जानते होंगे कि दही दूध को जमाता है। पर वे तुम लोगों को जानते नहीं। राज्य शक्ति से चलते हैं, क्रान्ति शक्ति से होती है, और दूध शक्ति से जमता है। तुम जादूगरनी हो। लो, यह दूध जमाओ।'

मेरे आकस्मिक बोधोदय और मोहावेश को किंचित् मंद बनाकर वह बोलीं, "दही का पत्ता कहाँ है?"

मैंने कहा, 'क्यों मुझे छलती हो, रानी? यह सब तुम्हारी ही माया है। दही को तो मैंने छुट्टी दे दी है।'

बोलीं, "तुम्हारा सिर! सच बोलो, दही कहाँ है।"

लेकिन मैं तो शास्त्रीय रहस्य को पा गया था। इससे मग्न भाव से श्रीमती की क्रीड़ा देखता रह गया।

जितनी वह झल्लाईं, उतना ही उनके शक्ति के जादू में मेरा विश्वास अटल होता गया।

बोलीं, "अब इस वक्त कहाँ से मैं जामन लाकर पटकूं। मेरे करम

फूटे हैं। बताते क्यों नहीं कि इस वक्त कहाँ से जामन आयगा ! दही क्या अपने सिर से जमा दूं !"

किंतु उनके समस्त रोष को मग्न भाव से मैंने ग्रहण किया। कहा, "जो कहो, आधी रात करने को मैं तैयार हूँ। जामन के नाम पर जो मंगाती हो वह यह लाया। पर जामन बिचारा कुछ नहीं है। सब तुम्हीं हो, क्योंकि शक्ति हो। शक्ति ही सब है।"

श्रीमती ने कहा, "इतने बड़े होगये फिर भी तुम्हें...."

पर हाय, श्रीमती जादूगरनी हों कि देवी हों, स्त्री तो हैं ही। इससे वह क्या जानें। अपने ही अपने को वह तो देख सकती हैं। पर मैं तो एक महा रहस्य की बात जान गया हूँ। वह यह कि दही की एक फिटक सेरों दूध को नहीं जमाती। यह तो श्रीमतियों की छलना है कि लोग ऐसा समझते हैं। लोग तो ऐसा भी समझ लिया करते हैं कि अमुक एक आदमी ने इतिहास बदल दिया, या अमुक ने एक नया युग ला दिया। पर वह तो सब कहने की बात है। न दही दूध जमाता है न व्यक्ति समाज बनाता है।

समाज का शास्त्र है तो समाज की असलियत समाज में नहीं शास्त्र में है। उस शास्त्र से सिद्ध है कि घर वाली घर के दूध को अपने हाथके जोर से जमाती होगी। भावार्थ पहले सब कहीं जोर को हाथ में लेना होगा। चाहे बात घर की हो, सभा की हो, समाज सरकार की हो। सत्ता लिये बिना कुछ न होगा। लेना, यानी छीन लेना। वह जबरदस्त काम छल के बल, या बल के छल से ही हो सकेगा। हमारी श्रीमती में जरूर छल है, यही तो बल है। इसी से तो उनके आगे दूध बिचारा दही कैसे न हो रहेगा !

खैर, श्रीमती की बात रखने को जामन मैंने ला दिया। पर मैं जानता हूं कि जामन का नाम था, काम तो श्रीमती का था कि दही जैसा कल मिला, वैसा आज मिला, और आगे उन छल-बल-शालिनी की मुझ पर दया-माया रही तब तक मिलता रहेगा।

: १७ :

धर्म-युद्ध

युद्ध कलह या झगड़ा नहीं है। वह झगड़े से कुछ गहरी चीज है। झगड़ने वाले दया या क्षमा कर सकते हैं। युद्ध में ऐसी भावनाओं के लिए जगह नहीं।

युद्ध को मैं जीवन की शर्त मानता हूँ। जीवन युद्धमय है। यों भी कह सकते हैं कि जीवन का धर्म, निरन्तर और अनवरत युद्ध है। अद्वितीय धर्म पुस्तक गीता का आरम्भ 'धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे' से होता है। कुरुक्षेत्र यानी कर्मक्षेत्र, यानी युद्धक्षेत्र। धर्म का भी उससे कोई अलग क्षेत्र नही है। कर्म के मध्य ही धर्म की साधना है। कर्ममात्र बारीकी से देखें तो युद्ध रूप है। इसी से कर्तव्य-शास्त्र, यानी नीति-शास्त्र, विधि-निषेध युक्त होता है। इसी से फिर कर्म में सत्कर्म और दुष्कर्म, पुण्य कर्म और पाप कर्म की कोटियाँ बन गई हैं।

किन्तु झगड़ा युद्ध से भिन्न है। झगड़ा व्यक्ति और व्यक्ति-समूहों में होता है, और अहंकार वश होता है। युद्ध दो तत्वों के मूल द्वंद्व का नाम है। पाप और पुण्य और सत् और असत् के युद्ध में कोई किसी पर दया नहीं कर सकता। दो तत्वों के संघर्ष के बीच उस प्रकार की भावना नितांत असंगत है। झगड़े में न केवल मानवी भावना को स्थान है, बल्कि उन्हीं भावनाओं की अपेक्षा झगड़ों का शमन अथवा दमन हो सकता है। इस दृष्टि से युद्ध को बारीकी से समझने की आवश्यकता है।

दो पड़ौसी आपस में लड़ पड़ते हैं तो मुहल्ले के लोग मिलकर

उनका बचाव कर देते हैं। मुहल्ले वाले आपस में दल बाँध कर लड़ पड़ें तो पुलिस बीच में आ जाती है। दो सेनायें भिड़ पड़ती हैं, तो राजनेता संधि कराने की कोशिश करते हैं। लड़ने वाले लड़ाई को जरूरी मानते हों, लेकिन जो उनके पक्षों को लेकर आवेश में नहीं आ गया है, वह उनकी लड़ाई में मदद नहीं करेगा। वह तो उसके कारणों को दूर करने की कोशिश करेगा और दोनों दलों में मेल करा देना चाहेगा।

सत् और असत् में मेल नहीं हो सकता। पर 'अ' और 'ब' में, हिन्दू मुसलमान में, हिन्दुस्तान और विलायत में, मित्र देशों और धुरी राष्ट्रों में समझौता हो सकता है।

अर्थात् जिसको धर्म-युद्ध न कहा जा सके उसे कलह ही मानना चाहिये। कलह के नीचे स्वार्थ रहता है या वहका हुआ अहंकार रहता है। अहंकार व्यक्तिगत ही नहीं होता सांघिक भी होता है; जातियों, राज्यों, देशों और राष्ट्रों में भी अहं भावना उद्दीप्त हो रहती है। तरह-तरह के साहित्य से उसे पोषण मिलता है। उसे हक़, सत् और न्याय का नाम मिल जाता है। राष्ट्र फैलकर साम्राज्य बन उठते हैं। उनके अलग स्वार्थ खड़े होते हैं। राष्ट्रीयता का यह फूला हुआ रूप साम्राज्यवाद है।

ऐसे संगठित स्वार्थों और अहंकारों के झगड़ों को इतना ऊँचा धरातल मिल जाता है कि मानों वे धर्मयुद्ध ही हों। करोड़ों आदमी एक तरफ एक आवेश से भर जाते हैं जब कि दूसरी तरफ उसी तरह के करोड़ों आदमी उसके विरोधी भाव से अपने को भर लेते हैं। दोनों को पक्का भरोसा रहता है कि उनका पक्ष न्याय का और ईश्वर का है जब कि प्रतिपक्ष शैतान का है।

केवल बड़े और बहुत फैले हुए होने से किसी कलह को युद्ध कह देना स्वाभाविक है। किन्तु यदि हम इसे भाषा का प्रमाद मानें तो लड़ने वालों की गिनती करोड़ों में जाने के कारण में किसी कलह को युद्ध कहना पसन्द नहीं करूंगा।

इस दृष्टि से वे सब राजनीतिक युद्ध जो किसी अमुक तिथि को होते हैं और कुछ नर-मुण्डों की बलि लेकर अमुक तिथि को बन्द हो जाते हैं, मेरे लेखे असल युद्ध नहीं हैं। धर्म-युद्ध सतत होता है, अनवरत होता है, और एक तरह अनन्त भी होता है । उसका अन्त मुक्ति से इधर कहीं भी नहीं। उसमें बीच में संधि द्वारा आराम भी नहीं है। गीता का युद्ध मेरी समझ से वही युद्ध है। अठारह दिनों तक पांडवों और कौरवों के बीच तीर और तलवार से लड़ा जाने वाला युद्ध गीता का इष्ट नहीं उपलक्ष्य मात्र है।

प्रश्न होगा कि यह तो शब्द की बारीकी में ले जाकर जीवन की सामान्य भाषा से युद्ध को विच्छिन्न ही कर देना हुआ। जिसमें रोज लाखों जानें जा रही हैं,जिसके कारण समूची मानव जाति की कर्म-चेष्टा एक विशेष दशा में प्रवाहित हो रही है; जिसके कारण अन्न का संकट है, मुद्रा-संकट है, जीवन-संकट है; हमारे मानो हरेक सांस पर जिसका प्रभाव है उस महती घटना को 'झगड़े' का नाम देकर टालने से क्या लाभ है ? असल युद्ध यह नहीं है, और चलिये युद्ध भी नहीं है, तो क्या हुआ। वह एक समस्या है जा हमें घोट रही है । इतिहास मानों यहां भंवर म घूम रहा है। शताब्दियों से चली आती हुई परम्परायें ध्वस्त हो गई हैं। मानव जाति का भाग्य मानों एक महाकुण्ड में तपाया जा रहा है। आदमी जब से जनमा है ऐसा महोत्पात नहीं घटा। उस विभीषिका से बचकर और उसे नकली कहकर आपका धर्म-विचार यदि चल सकता है तो वह बुद्धि-विलास से अधिक क्या होगा ? हमें ऐसे किसी धर्म से क्या लाभ है जो आज की जलती समस्याओं से उदासीन है और तात्विक चर्चाओं में लीन है ?

उस प्रश्न से बेशक बचना नहीं है। सब धर्म-विचारकों और प्रचारकों को उसकी चुनौती है। धर्म यदि अलग है तो फिर उसे सदा के लिए अलग रहना होगा। यदि कोटि-कोटि मानवों के हित से और उनके सुख-दुःख से धर्म अलग और असंलग्न नहीं रह सकता है तो उसके संर-

क्षकों को उस चुनौती को झेलना होगा और जवाब देना होगा कि धर्मज्ञ और धार्मिक ऐसे विपत्ति के समय क्या करते और क्या करना चाहते हैं ?

यों तो हर देश का संस्थाबद्ध धर्म उस देश की सरकार का अनुमोदना करता देखा ही जाता है। वह तो उसकी चाकरी है। लेकिन ऊपर के प्रश्न की चोट उसके लिए है जो धर्म की संस्था पर निर्भर होकर नहीं जीता है, बल्कि जो धर्मयुद्ध में समिधा की भांति हुत हो जाने की योग्यता पाना चाहता है ।

मैं मानता हूँ कि बाहरी, यानी राजनैतिक, युद्ध विस्फोट हैं। कारण उनका अन्दर जमा होता रहता है। कारण को ही राजनैतिक समझना रोग के निदान में चूकना है। निदान के लिए गहरे जाना होगा । उसके लिए मानव और मानव के सम्बन्धों तक उतरना होगा। विधान प्रजातन्त्र है, राजतन्त्र है, अथवा उन दोनों का कुछ मेल है, या कि कोई नये प्रकार का अधिनायक तन्त्र है। इस विधान के तल से नीचे जाकर उस कीटाणु को ही पकड़ना होगा जो विष का मूल है। उसके लिए अत्यन्त वैज्ञानिक और तटस्थ वृत्ति से चलकर मनुष्य की मानसिकता में पैठकर उस मूल द्वन्द्व को पाना होगा, जिसमें से स्वार्थलिप्सा का अंकुर फूटता है।

इस काम में मार्क्स की समाजवादी विचार-धारा या इस दिशा के दार्शनिकों की भौतिक विचार-धारा पूरी तरह से मदद नहीं कर सकेगी। वह विचार-पद्धति अन्दर टटोलने की ज़रूरत नहीं पैदा करती। परिस्थिति में दोष ढूँढ़कर उसके निराकरण के लिए दल बनाकर राजनीति खड़ी करने की बात वह कहती है। मैं व्यक्ति पर वह ध्यान नहीं देती।

धर्म व्यक्ति की इकाई से आरम्भ होता है। इसलिए प्रारम्भ से ही वह व्यवहार्य है। धर्म की साधना है अपने को पर-हित यानी समाज-हित में घुला देना। क्रमशः स्व–पर भेद धर्माभ्यासी के लिए मिटता जायगा और वह पर में स्व को देख सकेगा। इस तरह धर्म परमार्थ में

स्वार्थ को आहूत, समर्पित और विलीन करने का अभ्यास सुझाकर मानो उस कीटाणु को निष्प्राण करता है जहां अर्थ-लिप्सा और शोषण-वृत्ति का मूल है।

इस आधार पर कि धर्माचरणी वर्ग अक्सर संचयशील देखा जाता है, धर्म-भावना वैश्य-वृत्ति के साथ निभती अधिक पाई जाती है, धर्म-साधना को अनावश्यक और अनुपयोगी ठहराना भूल होगी। दूध से जले को छाछ तो छोड़ना ही नहीं चाहिए, दूध भी नहीं छोड़ना चाहिए, क्योंकि जलाने का गुण अग्नि का है दूध का नहीं। सच पूछिये तो उस धर्म-साधना के अभाव में कलह-युद्धों को असम्भव नहीं बनाया जा सकेगा।

इस भांति देखें तो प्राथमिक युद्ध अर्थात् धर्म-युद्ध उस स्वार्थ-युद्ध से ही है। वह युद्ध इतिहास के आदि से अब तक बराबर लड़ा जाता रहा है और संत-परम्परा उसी के योद्धाओं की परम्परा है। वह युद्ध संस्कृति का राजनीति से, अहिंसा का हिंसा से, श्रद्धा का शंका से, योग का भोग से और सेवा का स्वार्थ से है। एक ओर व्यक्ति की या समूह की अहंता है, दूसरी ओर सत्य का आग्रह या ईशनिष्ठा है। मनुष्य ईश्वर से विद्रोह करता है, किन्तु ईश्वर तो मनुष्य में निहित ऐक्य भाव ही है। इस तरह वह स्वयं अपने खिलाफ लड़कर अपना ही ह्रास करता है। स्पष्ट है कि समष्टि-गत ऐक्य-चेतना अथवा भगवच्चेतना के विरुद्ध व्यक्ति के या समूह के अहंभाव को टिकने के लिए स्थान नहीं है। फिर भी मनुष्य द्रोह ठानता ही है और स्वार्थ की लड़ाइयों को जन्म देता है।

पर नर के निमित्त से नारायण की लीला सम्पन्न होती है और प्रत्येक भौतिक युद्ध में से मानव जाति आगे ही बढ़ती आई है। उन युद्धों की मदद से हमारी ऐक्य-कल्पना और ऐक्य-गठन उत्तरोत्तर उन्नत होता गया है। दुनिया के देश आपस में आज अपरिचित नहीं हैं और, वैर में ही क्यों न हों, वे परस्पर घनिष्ठ रूप से आबद्ध हैं। यह जाने-अन जाने ऐक्य की दिशा में हमारे सतत प्रयाण के लक्षण हैं। और सच्चा

युद्ध वही है, वही हो सकता है, जो मानव के भीतर के अनैक्य को चुनौती और ऐक्य को गति दे। इसको अपनी सनातन भाषा में कहें तो वह आत्म-अनात्म का, जड़ चेतन का, युद्ध है। जड़बद्ध होकर मनुष्य स्वार्थी बन गया है, चैतन्योदय के साथ उसमें परमार्थ-भावना जागती है।

इस परम और सनातन धर्म-युद्ध में हम अडिग आत्म-श्रद्धा के साथ चैतन्य के पक्ष में होकर जड़ स्वार्थों से मोर्चा लेते रहें, और चाहे उसमें देह जाये, कभी पराजय स्वीकार न करें, यही मानवोचित पुरुषार्थ है।

: १८ :

राम की युद्ध-नीति

इस महादेश की संस्कृति के दो ध्रुव हैं राम और कृष्ण। रामायण और महाभारत उन्हीं के चरित कहिए। इन दो ग्रंथों के स्तम्भों पर चालीस कोटि मानवों की शताब्दियों का भाग्य टिका है।

माना जाता है कि यह संस्कृति विरागमय है। जीवन-दृष्टि उसकी निवृत्तिमूलक है। ब्रह्म सत्य और जग उसे मिथ्या है। महापुरुष उसे वह है जो संसार से विमुख एकान्त में आत्मा की जय साधता है। संसार उसे प्रपंच और मुक्ति ध्येय है। हर कीमत पर वह शान्ति चाहता है। अहिंसा उसे परमधर्म है। एक शब्द में, वह संस्कृति आधिभौतिक के विरोध में आध्यात्मिक है।

और यह ग़लत भी नहीं है। भारत की विशेषता उसका इहलोक पर परलोक को प्रमुखता देना ही है।

पर उसी संस्कृति ने राम और कृष्ण को भगवान माना है और ये दोनों ही दो महायुद्धों के नायक हैं।

इस ऊपरी विरोध के भीतर जाकर उसके अर्थ को देखना होगा।

यह सच है कि भारत ने बड़े योद्धा को प्रतिष्ठा नहीं दी। चक्रवर्ती को भुला दिया और सन्त की वाणी को उसने याद रखा। महाविकट युद्ध एक दु:स्वप्न की विभीषिका से अधिक उसके लिए कुछ नहीं रहा। वह होकर बीत गया और भारत के जीवन पर कोई विकृति नहीं छोड़ गया। पर यह उससे भी अधिक सच है कि उसके मर्यादापुरुष राम हुए और कृष्ण

हुए, जो वन के महात्मा नहीं राज्यों के निर्माता थे और जो शान्ति में और समाधान में नहीं, वरन् युद्ध में और समस्याओं में जिये। कारण, भौतिक के घमसान नें उन्होंने अध्यात्म के समत्व की और जगत्कर्म की विपुलता में ब्रह्मत्व की साधना सिद्ध की।

राम राजा थे; पर भगवान हैं। यानी राजा के रूप में वह व्यतीत हुए, भगवत-रूप में ही वह शाश्वत होकर वर्तमान है।

देखना चाहिये कि क्या उनके युद्ध में भी भागवत-भाव देखा जा सकता है?

वह युद्ध भौतिक था, लेकिन वह धर्मयुद्ध होकर ही भगवान राम का बना। अपने राज-कर्म और व्यक्ति-कर्म में वह समष्टि चेतना से परिचालित थे—हिन्दू विश्वास ऐसा ही है। उसके निकट श्रीराम के कर्म पर समय की और स्थिति की इयत्ता नहीं है। मानों उनका युद्ध रावण नामक किसी व्यक्ति से न था, वह तो पुंजीभूत असत् के प्रतीक रावण से था। भारत का समाज शताब्दियों के भीतर से इसी आस्था में राम-चरित के चहुंओर इतना कुछ जुटाता रहा है कि अमुक समय और देश में हुए इतिहासी राम काल-देश की सीमा से मुक्त होकर त्रिकाल-त्रिलोक के पुरुषोत्तम राम हा गये हैं उनका चरित्र एतिहासिक बोध का नहीं जिज्ञासु निकट आत्म-शोध का ही साधन बन उठा है। मानो कभी कहीं हुए राजा वह इतने नहीं, जितनें कि घट-घटवासी राम हैं!

यह कैसे हुआ?

सामान्यत: आत्म-क्षेत्र और जगत्-क्षेत्र दो हैं। आत्म-जेता यम-नियम और दम-संयम के अस्त्रों से लड़ते हैं। वे धन-मान और बन्धु-बान्धव छोड़ अकेले बनते हैं। जगत्-योद्धा तीर-तलवार और दल-बल से लड़ते हैं और सत्ता-प्रभुता का विस्तार चाहते हैं। एक अहिंसा साधते, दूसरे नर्धा ठास्पते हैं।

दोनों की दो राहें हैं और उलटी हैं।

अब, नहीं कहा जा सकता कि लंका में लहू नहीं बहा। वहाँ शासक-

कुल में विभीषण के सिवा कौन दूसरा बच पाया ? ऐसे युद्ध के प्रेरक होकर राम फिर आर्य-संस्कृति के मान्य कैसे हुए ?

यहाँ यह कहना कि राम-चरित का युद्ध यथार्थ नहीं, सिर्फ़ रूपक है,बात से बचना होगा। रूपक तो वहाँ है ही। व्यक्ति राम में प्रभु राम की प्रतिष्ठा के लिए रूपक तो आना ही था और भगवान राम से लड़ने वाले रावण के लिए दस सिर और बीस भुजाओं वाला अति-मानव भी बन उठना अनिवार्य था। जिससे भगवत-युद्ध अनीति के प्रतीक राक्षस से ही हो, अन्य किसी से नहीं।

पर इस सब लोकमान्यता और काव्यातिशय के, 'माइथालाजी' के, पार होकर विवेचक को राम की युद्ध-नीति की परख में जाना होगा। जानना होगा कि विजेता होकर भी सिकन्दर और 'सीज़र' को जिस मान से नापा जाता है उससे राम को हम क्यों नहीं नाप पाते ? क्यों वह नाप वहाँ ओछा पड़ जाता है ? राजा होकर, लड़कर, जीतकर, अश्वमेध रचाकर, ऐश्वर्य से मण्डित होकर भी राम धर्म के तीर्थ और अध्यात्म के आदर्श कैसे बने हुए हैं ?

इस प्रश्न के उत्तर में उनकी युद्ध-नीति को परखना आवश्यक है। उस युद्ध की पृष्ठभूमि यह है अयोध्या के निर्वासित राजकुमार राम, अकिंचन, देह पर छाल पहने, पत्नी और भाई के साथ वन-पर्वत भटकते, फल-मूल खाते, सुदूर दक्षिण पहुंचे हैं। अयोध्या से यह जगह हज़ारों कोस के अन्तर पर है। सत्ता का या उसकी महिमा का अंश भी यहाँ उनके साथ नहीं है। वनजीवी हैं और पशुओं से स्नेह पाकर रहते हैं।

ऐसे समय रावण उनकी सीता को ले जाता है। रावण लंका का राजा है। वह अतुल बलशाली है। वह नराधिप है, राम नर-मात्र। वह सत्ता-सन्नद्ध है, राम एकाकी हैं। वह दुर्ग की रक्षा में है ,राम वनचारी हैं।

इन दो शक्तियों में युद्ध होता है। कारण बनता है सीता का अपहरण। सीता राम की भार्या हैं इसलिए नहीं, बल्कि लंकाधीश बल के मद में उन्हें बन्दी बनाये हुए हैं, इसलिए राम को लड़ना पड़ता है।

इस पृष्ठभूमि पर से उस युद्ध के बारे में हम ये परिणाम निकाल सकतें हैं—

१. युद्ध का राजनैतिक हेतु न था।

२. राजनीति की ओर से राम सत्ता-शून्य थे। इससे आत्म-धर्म के नाते राम युद्ध में उतरे।

३. साधनहीन होकर सत्ताधीश से युद्ध ठानने में उन्होंने उपकरण को हीन और संकल्प को सब कुछ माना।

४. वेतन-भोगी सेना उनके पास न थी।

५. नैतिक शक्ति उनकी शक्ति थी। अपने पक्षवालों को पुरस्कार, पद या प्रतिदान देने के बल पर सैन्य-संग्रह उन्होंने नहीं किया।

६. युद्ध का नेतृत्व उन पर लौकिक प्रभुता नहीं, नैतिक निष्ठा और उच्चता के कारण आया और समूचा युद्ध उनकी ओर से उसी भूमिका पर रहकर चला।

युद्ध में राम की विजय का सम्पूर्ण नहीं तो अधिकांश कारण ऊपर की इस भूमिका में आजाता है। उससे प्रकट है कि उनकी युद्ध-नीति का सबसे प्रधान अंश इस निश्चय में था कि युद्ध का हेतु केवल और शुद्ध नैतिक ही है। वह तनिक भी लालसा,सत्ता और सम्पत्ति का युद्ध नहीं है।

आधार में इस धर्म-नीति की भूमिका का निश्चय होने के अनन्तर आगे भी उसकी निरन्तर रक्षा हो--राम की युद्ध-नीति की दूसरी चिन्ता यह मालूम होती है। यानी युद्ध का हेतु धार्मिक हो। इतना ही नहीं, उसकी प्रक्रिया और प्रतिक्रिया भी अनुरूप हो यह भी उनकी युद्ध नीति के विचार में गर्भित था। साध्य की शुद्धता परखने के बाद साधनों को अनुकूल शुद्ध रखने की ओर वह युद्ध-नीति सावधान थी।

युद्ध लड़ने की इच्छा पर राम में सदा उससे बचने की इच्छा की प्रधानता रही। यानी युद्ध उनकी ओर से शांति-चेष्टा का ही अंग था। युद्ध के बीच भी उनकी नीति संधि का मार्ग खोजती रही थी। यानी

युद्ध-नीति भीतर से शांति-नीति से भिन्न न हो पाय, इसका ध्यान राम को था। अंगद उनकी ओर से रावण के पास संधि के लिए कुल इतनी शर्त लेगये थे कि सीता वापस लौटा दी जाय। लंकाधिपति के स्वत्व पर, प्रतिष्ठा पर, यहां तक कि मत-मान्यता पर किसी प्रकार के आरोप की बात उनकी युद्ध-नीति में नहीं आती थी।

युद्ध में विजय निकट दीखी तो भी आरम्भिक मांग को और उसके मूल हेतु को बढ़ाया नहीं गया; यानी आवेश और अकांक्षा का उस युद्ध-नीति से संबंध न था और विजय में अवसर देखने की वृत्ति न थी। विजय होने पर लंका के राज्य से अधिपतित्व का या और किसी तरह की प्रभुता का संबंध राम ने नहीं स्थापित किया। रावण के कुटुम्बी-जन विभीषण लंका के राजा हुए। विजेता ने कोई अपना स्वार्थ विजित देश में नहीं पैदा किया। किसी संधि के अनुसार लंका को अवध के प्रति झुकने की आवश्यकता कभी न हुई।

सैन्य-संचालन आदि के बारे में राम की युद्ध-नीति आत्यन्तिक उदासीनता की थी। यह उदासीनता प्रखर योद्धा राम की जय में कम महत्त्व की वस्तु न थी। वह काम तो सुग्रीव और लक्ष्मण का था। वह पक्ष मानो असल युद्ध-नीति से उनके निकट असंगत था। निश्चय उस संबंध में गुप्तभेद या छल-प्रयोग के वह विरुद्ध थे। युद्ध सीधा और ईमानदार और जान हथेली पर लेकर हो, इस पर उनका आग्रह था। रण में वह स्वयं सैनिक थे, पीछे से आज्ञा देने वाले सेनानी ही नहीं।

यह भी प्रमाणित है कि शत्रु के प्रति वह सहज सहानुभूति से काम लेते थे। यथाशक्ति हिंसा से बचते थे। एक की जान पर वह इतने भावुक हो आसकते थे कि समूचा युद्ध उन्हें व्यर्थ लग आये। यह व्यथा ही रण में उनके बल का मूल थी।

इस प्रकार युद्ध की प्रेरणा और हेतु में शुद्ध अराजनैतिक और धर्म-नैतिक भावना का निश्चय, संहार की सैन्य-कला के संबंध में आत्यन्तिक

उदासीनता, शत्रु के प्रति मानवीय सहानुभूति और शांति के मार्ग की सततशोध—ये उनकी युद्ध-नीति के मुख्य अंग कहे जा सकते हैं। यही कारण है कि वह युद्ध-विजेता हैं और धर्मावतार भी हैं। उनके उदाहरण में धार्मिक और राजनैतिक दोनों पक्ष के नेताओं के लिए प्रकाश है।

: २० :

श्रद्धाञ्जलि

रविबाबू हमारे बीच से उठ गये और आज उनके साहित्य पर नहीं स्वयम् उन पर ध्यान जाता है। साहित्य का अन्तरंग क्या है ? उसे मैं संस्कृति कहूं और दूसरा कुछ और कह दे, पर वही असल है। रविबाबू के निधन पर मन में कुछ जिज्ञासा उठी है जो साहित्य के अन्तरंग में जाना चाहती है।

वह विश्व-कवि थे और दुनिया के बौद्धिक से अधिक आध्यात्मिक प्रहरी थे। मानवता के आदर्श को उन्होंने ऊँचा रखा। किसी राष्ट्रीयता या जातीयता से ग्रस्त नहीं होने दिया।

यूरोप में युद्ध-घमासान मचा है। जाने उसमें से क्या भविष्य निकलेगा। भविष्य की उज्ज्वलता का विश्वास खोने का हक़ किसी को नहीं। फिर भी वर्तमान को देखकर जी कांपता ही है। इस रक्त-स्नान में से निकलकर मानवता क्या रुख लेगी, कहा नहीं जा सकता। पर रविबाबू से मन में दूसरा सवाल उठा है। जर्मनी रूस पर विजय पाने के लिए लाखों जानें खो रहा है और लाखों ले रहा है। अस्त्र-शस्त्र की हानि की तो गिनती क्या ? लेकिन रविबाबू के निधन पर देख पड़ा कि उन्होंने एक मुल्क के नहीं, तमाम दुनिया के हृदय को जीता था। सो कैसे सम्भव हुआ ?

आज यही बड़ा सवाल है। जीतने की ठान-ठानकर कोई चलता है तो देखा जाता है कि हर क़दम पर प्रतिरोध है। मुल्क तो मुल्क, आदमी

से भी सीधे गर्दन नहीं झुकवायी जा सकती। शक्ति का ज़ोर दूसरी तरफ़ भी प्रतिरोध के ज़ोर को उभार देता है। कोई जीते जी बस में नहीं आना चाहता। ऐसे विजेता मुर्दों की खोपड़ियों पर खड़े होकर ही अपने को विजेता कह सकता है। फिर उन खोपड़ियों के नीचे सुलगता वैर छिपा रहता है जिसमें से आगे जाकर उस विजेता का शत्रु पैदा होती है। हमारी आंखों के आगे शक्ति का युद्ध चल रहा है। वहाँ चप्पा-चप्पा ज़मीन सैकड़ों-हज़ारों की जान बहाने पर ही जीती जा सकी है। फिर भी ज़मीन जीती जा सकी है आदमी नहीं, और वह विजय जाने किस छन पराजय बन जाय। इसमें सन्देह है कि उस प्रकार की विजय विजेता को भी आश्वासन देती है।

दूसरी ओर यह विजय देखता हूँ। यहाँ आपस में होड़ है कि कौन अपनी श्रद्धा अधिक गाढ़ी दिखा सके। यहाँ श्रद्धा के समर्पण में राजा-प्रजा, राजनीतिक और साहित्यिक सब एक हो गये हैं। पत्रों में हमने देखा तो कि सरकार के प्रथम प्रतिनिधि वायसराय के साथ सरकार के प्रथम विद्रोही गांधीजी की श्रद्धाञ्जलि छपी है।

उस विजय के विस्तार की ओर मुझे नहीं देखना है। उसकी प्रकृति से ही मुझे काम है। और मैं मानता हूँ कि इस प्रकार की विजय, चाहे फिर उसकी व्याप्ति कितनी ही स्वल्प हो, सैनिक विजय से चाहे कि फिर वह कितनी ही महान हो, मेरे निकट अधिक क़ीमती है। कोई चाहे साम्राज्य बना दिखाये और पृथ्वी-खण्ड के तमाम भूपतियों को परास्त करके एक-छत्र चक्रवर्ती क्यों न बन जाये, पर वह बिल्कुल दूसरी चीज़ है। वह विजय के पहले प्रकार से एकदम भिन्न है और उसकी समता नहीं कर सकती।

रवीन्द्रबाबू के उपलक्ष से मेरा ध्यान उसी पद्धति की ओर जाता है जिससे दूसरे के हृदय को जीता जाता है। मैं सचमुच मानता हूँ कि सैनिक बहादुरी के बड़े-से-बड़े कारनामे से बड़ा करिश्मा वह है जहाँ कि एक आदमी स्वेच्छापूर्वक दूसरे के आगे माथा झुकाता है; जहाँ जो

माथा झुकता है, वह अपन झुकने के कारण अपने को उतना ही धन्य भी अनुभव करता है। इस दुनिया में जहाँ अहंकारों की लड़ाई है, वहाँ इससे बड़ी और स्थायी विजय हो क्या सकती है कि आदमी अपने अहंकार को ऐसा जीते कि दूसरा कृतार्थ-भाव से आप ही उसके आगे झुक जाये। मैं मानता हूँ कि यही सच्ची विजय है।

हाथ की ताक़त को हम जानते हैं, उसके असर को जानते हैं। बुद्धि की ताक़त को भी हम जानते हैं और वह यूरोप की लड़ाई में देखी जा सकती है। पर रवि बाबू के उदाहरण में जो ताक़त काम कर रही है, वह दैहिक नहीं है, वह अस्त्र-शस्त्र की नहीं है और वह चतुराई की भी नहीं है। वह उनसे भिन्न है और अमोघ है। मैं उसको आत्मा की ताक़त कह सकता हूँ।

वह नहीं दीखती लेकिन कैसे कहा जाय कि वह नहीं दीखती? क्योंकि वह नहीं तो रवि बाबू के प्रति विश्व के हार्दिक शोकोद्गार में दूसरी और क्या चीज़ दीखती हुई मानी जा सकती है? कोई आतंक से विजय पाये, उन्होंने स्नेह से हृदयों को जीता। और जो जीता गया, उसे पता न चला कि वह विजित है, बल्कि उसने भी वैसा ही आह्लाद अनुभव किया कि जैसे वह स्वयं विजेता हो। और यह सच है, क्योंकि सचमुच उस मार्ग से विजित सहज ही अपने दुर्द्धर्ष शत्रु अहंकार पर विजय प्राप्त करता है।

एक कथा सुनी थी। एक मुनि से धोबी उलझ पड़ा। मुनि ने भी लिहाज़ न की। ऐसे जब मुनि पर मार पड़ी तो उन्होंने ईश्वर को पुकारा। भगवान ने सेवकों को बुलाकर कहा—देखो, किन्हीं मुनि पर संकट है, जाकर रक्षा करो। सेवक चला गया। लौटा, तो भगवान ने पूछा—क्या हुआ? सेवक ने कहा कि महाराज, दोनों की हाथापाई में मैं तो जान ही न सका कि कौन मुनि है और कौन धोबी?

यही बात है। असल युद्ध है मानव के भीतर के देवता का और दानव का। रवि बाबू की साधना देव-मार्ग की थी। इसीसे मैं मानता

हूँ कि उसमें स्थायित्व है। मनुष्य जाति के विकास के इतिहास में उसका गणना होगी। वह ऊँचा उठाने वाली है। उससे ग्रहंकार को उत्तेजन नहीं मिलता। स्नेह की व्यथा ही और गम्भीर होती है। उससे आदमी में ऋजुता बढ़ती है और आपाधापी कम होती है।

प्रचार और अखबार के जमाने में सहसा जान पड़ता है कि जीवन के महत्त्व-सम्पादन का उसे छोड़ दूसरा रास्ता नहीं है। जैसे नामवरी ही महत्ता हो। पर रवीन्द्र के उदाहरण से यह प्रकट हो जाना चाहिए कि यह भ्रम है। अखबारी शोर सत्य को दबाने के लिए और विज्ञापन-वाली प्रसिद्धि असलियत को ढके रहने के लिए है। पर सत्य के अपने ही नियम हैं और महत्त्व अंत में प्रकट होता ही है। प्रचार और डंके का शोर अपने सिवा कुछ भी और न सुनने देने की कितनी ही कोशिश किया करे, हृदय की मौन-वाणी हृदय को एक अलक्ष्य तार के सहारे मिल ही जाती है। उसमें रव कम है, इसी से प्रभाव अधिक है। शाब्दिकता कम है, इसी से हार्दिकता उसमें से अनायास स्फुरित होती है।

रवि बाबू की कविता के पीछे मैं मानता हूँ कि स्नेह की और सहानुभूति की वही गहन व्यथा थी। उसी सुर से उनके शब्द पाठक के हृदय में एक झनकार छोड़ जाते थे और पाठक अनायास ऋणी बनता था। उसकी अपनेपन की गाँठ इस सहानुभूति के सन्देश से जैसे घुल रहती थी। और अपने को खो रहने से बड़ी आत्मोपलब्धि क्या है, उससे बड़ा दूसरा आह्लाद क्या है?

मनष्य की इस सहानुभूति पर तरह-तरह के अहंकारों की मर्यादा लदी होती है। कोई अपने सहधर्मी को प्रेम करता है, किन्तु उस प्रेम में ही चुनौती रहती है कि वह विधर्मी को न मिले। कोई देशवासी को स्नेह करता है, पर शर्त के साथ कि देश से बाहर के वासी को वह न पहुँच जाय। ऐसे जाति, संप्रदाय, राष्ट्र, धर्म और इस तरह के नाना भेद-विभेदों में मानव सहानुभूति का प्रवाह उलझकर रह जाता है। शायद रवि बाबू इन उलझनों से उबर सके थे। वह हिंदुस्तानी थे और

हिंदुस्तान गुलाम है; फिर भी उनमें क्षमता थी कि हिंदुस्तान के सम्बन्ध में अंग्रेज में जो प्रभुता का दंभ है, वह उनकी दृष्टि से नीचे रह जाय और उस अंग्रेज को वह अपना सहज स्नेह दे सकें। मेरी कल्पना है कि रवि बाबू के उन्नत मस्तक को देखते किसा अंग्रेज को अपने इस अहंगर्व में सांत्वना नहीं मिली कि यह हमारा गुलाम ह। इस तरह स्वयम् अंग्रेज़ को स्वतन्त्रता—क्योंकि सच पूछा जाय ता अंग्रेज आज स्वतन्त्र नहीं हैं—का तथ्य अपनाने में उनसे मदद मिली। अंग्रेज आज उनसे सच्ची अन्तर्राष्ट्रीयता सीख सकता है। वह चाहे तो उनके उदाहरण से अपनी संकीर्ण अंग्रेज़ियत से उद्धार पा सकता है।

मैं मानता हूँ कि राष्ट्रीयता से अलग शुद्ध इन्सानियत का सदा पक्ष लेकर रवीन्द्र ने राष्ट्र और राष्ट्रीयता की बड़ी सेवा की। इसी से वह सच्चे राष्ट्र-प्रेमी थे। स्वयम् में स्वच्छ और सच्चे बनकर वह एक ही साथ सच्चे बंगाली, सच्चे हिंदुस्तानी और सच्चे विश्व-नागरिक हो सके। अंग्रेज़ी पर किसी से कम उनका अधिकार न था, फिर भी सदा उन्होंने अपनी सहज भाषा बंगला में लिखा—अपनी धरती से, परम्परा से, अतीत से अपने को विच्छिन्न उन्होंने नहीं किया। किसी भाँति उन्हें कम आधुनिक नहीं कहा जा सकता, पर उन्हीं से हमें उपनिषद-काल की भी झाँकी मिलती है। युग उनसे बिछुड़ नहीं सकता, क्योंक युग-युगानुमोदित सत्य में उनका अधिष्ठान था।

हमारी राजनीति हिंसा को लेकर चले और अपने तात्कालिक प्रयोजन साधने की सोचा करे पर उसकी प्रगति उन मूलभूत आधारों से टूट नहीं सकता, जिनकी सत्यता की साक्षी अनादि काल से द्रष्टाओं की एक सतत परम्परा द्वारा हमको मिलती रही है। प्रेम से विकास सधा है और हिंसा के ज़ोर से किसी वर्ग का प्रयोजन भले सधता दीखे मानवता के हित की तो उससे हानि ही हो सकती है। इससे उन्नति का मार्ग वही है जहाँ दूसरे के व्यक्तित्व का दमन नहीं किया जाता, अपने ही विकारों के शमन द्वारा दूसरों से साम्य और ऐक्य साधा जाता है। उसका नाम

है अहिंसा; और संस्कृति यदि प्रगति कर सकी है या करेगी तो अहिंसा के ही द्वारा।

अपनी इस प्रतीति के साथ रवि बाबू की स्मृति में एक ऋणी मानव के नाते मैं अपनी श्रद्धा भेंट करता हूँ।